श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

गोस्वामी श्रीहरिकृष्णशास्त्रिविरचित

श्रीआचार्यविजय

हिन्दी अनुवाद
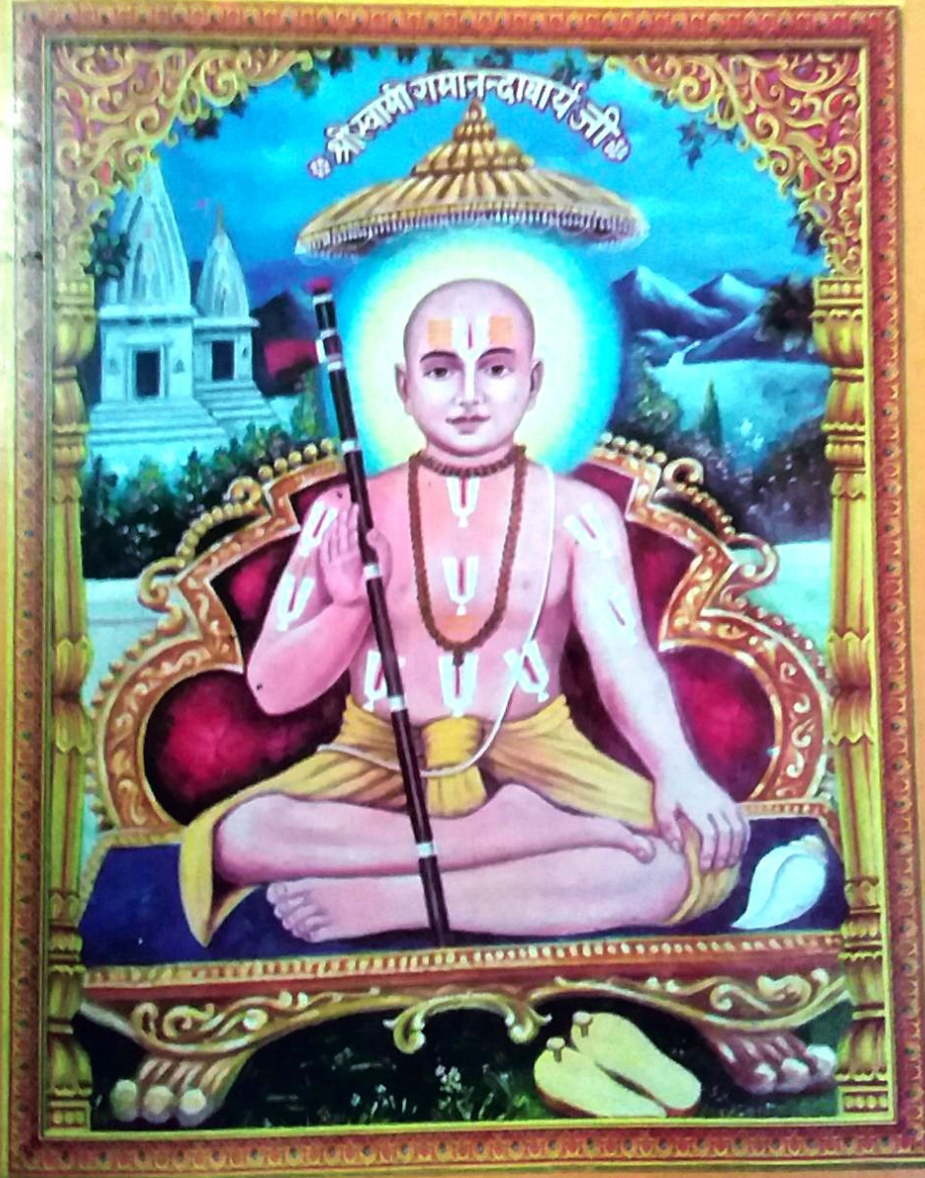
आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः।
रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धरणकारणः॥

प्रकाशक

डॉ. स्वामी राघवाचार्य वेदान्ती

जगद्गुरु अग्रदेवाचार्यपीठ श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा (सीकर)

बयालीसवाँ परिच्छेद

इस प्रकार आम्बेराधीश्वर के द्वारा बहुमानपूर्वक सम्मानित होकर मेदपाटधरामण्डल उस समय के "महाराणा" पद पर समलंकृत महाराणा से प्रश्रय और आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने पर स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने वहाँ के भावुक जनों की मनोऽभिलाषा को पूर्ण करने के लिए, अपने प्रवचनामृतपानहेतुभृङ्गस्वरूप श्रेष्ठ वैष्णवों के अभीप्सित को पूर्ण करने के लिए मेदपाटमौलिमण्डनस्वरूप, वीरताकामिनी सौभाग्य सिन्दूर महामहिम धीर चित्तौड़दुर्ग की ओर प्रस्थान किया ।

रास्ते रास्ते प्रत्येक नगर में प्रत्येक ग्राम में अपने धर्मोपदेश की धारावाहिनी को प्रवाहित करते हुए प्रसङ्गतः भगवान की वाणी को स्मरण कराते हुए- "हे अर्जुन ! जब जब धर्म की ग्लानि होती है" इत्यादि को हर समय लक्ष्य बनाकर भारतभूमि के संरक्षण के लिए और दुराचारी शुष्क हृदय वाले क्रूर मनुष्य स्वरूप काष्ठ को काटने के लिए, अत्याचार धनदारापहरण की पराकाष्ठारूप दुष्टों के समुन्मूलन के लिए प्रयास करते हुए, सोये हुए भारतीय वीर क्षत्रियकुलभूषणों, आत्मीयभावना मानस राजहंसों और धर्मप्राण हिन्दूओं को जगाते हुए, सदाचार परम्परा से आगत धार्मिक परिपालन पद्धति को शोधित करते हुए, शिथिल धर्मदृढ़तामति वाले आलसीनवयुवकों विदेशियों के चाकचक्य रूप मृगतृष्णा से मुग्ध हृदय वालों को समुत्तेजित करते हुए, सम्पूर्णमेदपाट पृथिवीमण्डल के अलंकाररूप पवित्र प्रभूतचरित, सम्पूर्ण भारतीय भावना की उद्भट भाव से भरित, धैर्य शौर्य गुण का कूट चित्रकूट पुण्य धाम चित्तौड़ में श्रीमेदपाटमिहिर महाराणा के द्वारा समायोजित सभा मण्डप में विराजमान परिकलित राजमान स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने क्षत्रिय वीरवरों को सम्बोधित करके तद्वंश परम्परागत धर्म धरा धन अभिजन मान मर्यादा के संरक्षण के व्रत की विशेषता को स्मरण करते हुए कहा-

हे साहसिक भारतीय भावनाभावितान्तःकरण वाले नवयुवकों ! आप लोग अपने पूर्वजों के चरित्रों को याद करें कि यह श्रेष्ठवीरों को जन्म देने वाली मेटपाटभूमि सर्वदा ही अपने मान मर्यादा के संरक्षण के लिए, स्वदेश

के कल्याण के लिए, जननी और जन्म भूमि के गौरव गरिमा को प्रकट करने लिए ही द्विजाति, गौ, धर्म कर्म नारीमान मर्यादा के लिए निरन्तर अपनें शरीर के रक्त की नदी को प्रवाहित करती हुई अनुपम आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करती हुई विद्यमान है ।

जब जब धर्म को संकटापन्न देखा, तब तब ही क्षत्रीय वीर कुमारों ने नरसिंह रूप होकर अपने प्राण की बाजी लगाकर सदा ही सनातन धर्म की रक्षा की है । इस समय फिर से वही समय आ गया है कुटिल और कराल काल चक्र से पराभूत सुन्दर चरित्र वाले सम्पूर्ण धर्म प्राण भारतीय सचेतन प्राणी भी अचेतन हो गये हैं और प्रतिदिन चारों तरफ से म्लेच्छों के आक्रमण हो रहे हैं लुटेरे सन्तत जबरजस्ती सुकृत समृद्ध प्रवृद्ध और सुसिद्ध समृद्धि को लूट रहे हैं । भारतीयों के सारे प्रयत्न कुण्ठित हो रहे हैं प्रशस्त परम्परा नष्ट किया जा रहा है । धर्मों के मूलभूत शास्त्रों का अपमान किया जा रहा है ।

इस समय वैसा भारत नहीं है । जहाँ सानन्द प्रत्येक घर में भगवान् नन्दनन्दन की स्तुति होती थी, स्वाहा स्वधा और वषट्कार का उच्चारण प्रसारित होता था, यज्ञनारायण की उपासना और बलि वैश्वदेवादि विधान के द्वारा वैश्वानर की उपासना इत्यादि होती थी, इस समय पृथिवी म्लेच्छों से आक्रान्त हो गयी है और सम्पूर्ण हिन्दू जनता अस्तव्यस्त और परित्रस्त हो गयी है, पापाचार के प्रचार में अपने चातुर्य को सफल मानने वालों के द्वारा सर्वतः हर प्रकार से निर्बल, निरीह, निष्प्राण प्रजा पीसी जा रही है और किसी तरह से जागी हुई प्रजा भी जलती हुई मनोमालिन्य के गर्त में गिरायी जा रही है ।

इसलिए आप सभी आपसी मनोमालिन्य को दूर करके और वैर भावना को छोड़कर कन्धे से कन्धा मिलाकर और वीर सैनिकों का वेष बनाकर देश, धर्म, धन और धामादि की सम्यक् रक्षा के लिए एक साथ होकर अपने हुंकार से कुटिल केशवाले यवन हिंसकों को कम्पित करें । अत्यन्त विलासभावना से जनित उद्‌भट इन्द्रिय लोलुपतारूपी तरल तरंगावली से अत्यन्तभीषण, चञ्चल प्रभा से युक्त सोने से वर्णों वाली सुन्दरियों के साथ विहार की, रसिकतारूपी महाजलावर्त भंवरवाली, गर्त में गिरने के उन्मुख करने वाली पुष्परूपी आभूषणों से विभूषित देवांगनाओं की तरह कल्पवृक्ष

जैसे मनोरथों को पूर्ण करने वाले सैकड़ों कामदेव के उन्माद से युक्त हास्य से समाकृष्ट कामियों के मन मराल रूपा अनेक अभिनय से कलित ललित भयरूपी दानव से प्रसारित महा माया के कारण जटिल जाल के जञ्जाल में फंसी हुई भारतीय जनता के मन रूपी हजारों पक्षियों से सुशोभित शाखा प्रशाखाओं के प्रसार से मण्डित वृक्षों से विभूषित सम्पूर्ण तटवाली चारों तरफ फैलने में तेज, विकट, स्वेच्छाचाररूपी वन क्रीड़ा के कुतुहल से आन्दोलित चञ्चल तरंग मालाओं से आकुलित जल वाली अति गम्भीर मानवों के दुराचार रूपी नदी को रोकें। शीघ्र ही सुदूर चले गये सदाचार सज्जनता सम्भार तेजस्वी विप्रों से उपदिष्ट विशिष्ट शिष्टाचार प्रचार को ले आवें। धर्म मर्यादा को धारण करें। के अनुरूप कल्याणकारिणी धार्मिक प्रक्रिया को करें। सनातनी रीति का प्रसार करें, कुल परम्परा आप लोगों को सद्बुद्धि, विजय, बल और वैभव प्रदान करेंगे। यही मेरा उपदेश है।

तैंतालीसवाँ परिच्छेद

सभी लोकों से वन्दनीय त्रिभुवन मुकुट, सम्पूर्ण चराचर जगद् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण भगवान् महाकाल का अतिशय प्रिय और श्रेष्ठ, स्वाधिष्ठान मूल भक्तजन भावना के अनुकूल, अनेक वन और उपवन से परिवृत जिसको साक्षात् भगवान शंकर ने ही अपने सेवक के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए ही अपने त्रिशूल के ऊपर धारण किया है वह सम्यक् जयशीला परमपवित्रा उज्जयिनीनाम की नगरी विराजमान है जहां सम्पूर्णपाप को शीघ्र नष्ट करने वाली अनेक जटाधारी एवं मुण्डी साधु सन्तो से सेवित पर्याप्त जल वाली, महान एवं सुन्दर फल प्रदान करने वाली, देव नदी गंगा की तरह भगवान शिव की आराधना में ही कल्याण मानने वाली, जगत्कल्याण की आधारभूता प्रशान्त स्वरूप वाली चारों तरफ प्रसृता शीघ्र फल देने वाली क्षिप्रा नाम की नदी बहती रहती है ।।

उसी अवन्ती देश के मुकुटस्वरूप सर्वथा पवित्र मोक्ष दायिनी सप्तपुरियों में अन्यतम विश्व में प्रसिद्ध सिद्ध साध्य गन्धर्व गणों से सेवित उज्जयिनी के सेवन की इच्छा से ही आते हुए स्वामी रामानन्दाचार्य रास्ते में उपदेश देते हुए, भक्तजनों के मनोरथ को पूर्ण करते हुए श्री क्षिप्रा नदी के परमरमणीय सुभग गम्भीर नीर से युक्त तट पर 'अङ्कपात' नाम के स्थान पर ठहर गये । दूसरे दिन प्रातः क्षिप्रानदी में स्नानध्यानादि नित्यकर्म सम्पन्न करके, क्षिप्राताट पर स्थित भगवान् के मन्दिरों में भगवान् का अर्चन वन्दन करके यथा समय वहाँ भी अपने प्रवचनामृत सरिता को प्रवाहित करने के लिए सभा मण्डप में बैठकर सभी लोगों से वन्दित और सुपूजित स्वामी जी ने अतृप्तजिज्ञासुओं को तृप्त करने के लिए प्रवचन आरम्भ किया । वहाँ पहले सप्तपुरियों में प्रधान प्रातः स्मरणीय उज्जयिनी की प्रशंसा किया । उज्जयिनी और क्षिप्रानदी की महिमा का वर्णन स्कन्द पुराण में भगवान् शिव ने स्वयं ही इस प्रकार किया है-

''महाकालवनञ्चास्ति त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् (विद्यते) ।
ज्ञानतोऽज्ञानतोवापि दृष्ट्वा मोक्षमवाप्नुयात् ।।

ब्रह्महत्यादि पापानि क्षयरोगादिकान्यपि ।
सर्वाणि विलयं यान्ति दृष्ट्वा क्षिप्रां वरानने" ॥ इति ।

महाकालवन तीनों लोकों में प्रसिद्ध है उस वन को जाने अनजाने में भी देखकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है । हे सुमुखि ! ब्रह्महत्यादि पाप और क्षयरोगादि भी सभी क्षिप्रा को देखकर विलय को प्राप्त हो जाते हैं ।

यद्यपि यह सम्पूर्ण भूमि तीर्थमयी है तथापि यहाँ यह वैशिष्ट्य है कि यहाँ कालहर महाकाल शिव का प्रतिक्षण शम प्रधान और सर्वानर्थोपशम दर्शन सुलभ है और भगवती महायोगेश्वरी श्रीहरसिद्धि का सर्वसिद्धि को प्रदान करने वाला सुलभ दर्शन है वहाँ भी २८ पावन तीर्थों का दर्शन सुलभ है यहीं पुरुषोत्तम सागर विष्णुसागर रुद्रसागरादि सात सागरों का पावन दर्शन सुलभ है एवम् परम पावन भुक्ति मुक्ति को प्रदान करने वाले अतिशय दर्शनीय प्रशान्त और वन्दनीय अनेक स्थल विराजमान है किं बहुना यहाँ पर एक रात्रि अथवा तीन रात्रि निवास करने से यात्रियों के सम्पूर्ण पाप का नाश एवं भगवद्धाम की प्राप्ति सुलभ है ।

यही वीर विक्रमादित्य की परम प्रसिद्ध राजधानी थी । यही वह स्थल है जहाँ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने मथुरा से आकर महर्षि सान्दीपनि गुरु से सम्पूर्ण विद्या और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र विद्या का अध्ययन किया । विद्याध्ययन काल में ही अत्यन्त दीन सुदामा जी से मैत्री किया और लोकातीत अभूतपूर्व व्यापार के द्वारा मैत्री का निर्वहन किया । उसी मैत्री के फलस्वरूप आज भी सुदामापुरी अपने नाम से प्रसिद्ध है भगवान् के द्वारा प्रदत्त वैभव विलास भोग भाजन पोरबन्दर नाम से इस समय सिद्धिप्रद प्रसिद्ध नगर है ।

प्रतिदिन श्रीमहाकालेश्वर का अधिकृत निवासभूत परमपावनपराग से सुसज्जित प्रवेश विशेषयुक्त अवन्तिकापुरी की एक और महती विशेषता है कि यहाँ प्रत्येक १२ वर्ष के बाद महाकुम्भ पर्व आता है गुरु के सिंह राशि में स्थित होने पर, सूर्य के मेष राशि में स्थित होने पर, वैशाख मास में शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के स्वाति नक्षत्र में स्थित होने पर पूर्णिमातिथि में सोमवार के दिन व्यतिपात योग में यहाँ आकर जो मनुष्य पापनाशिनी गंगासदृश क्षिप्रा के परमपावन जल में स्नान करता है देवताओं का पूजन

करता है देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण करता है वह पद पद पर प्रत्येक स्नान क्रिया के समय सौ सौ सुमेरु सदृश करोड़ों सुवर्ण दान के समान फल प्राप्त करता है जैसे कि कहा गया है ।

''सिंहस्थेगुरौ :-

''वैशाखे, विशदे दले, हिमकरे, सस्वाति पूर्णा-तिथौ,
योगे वा व्यतिपातकेऽथ, वणिजे चन्द्रे, रवौ मेषगे ।
सिंहस्थे बृहतां पतौ, यदि जनः क्षिप्राम्बुनि स्नाति, सः
स्वर्णाद्रिः शतदानकल्पितफलं प्राप्नोत्यवन्त्यां पुरिं ॥१॥

वैशाख में शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा के स्वाति नक्षत्र में स्थित होने पर पूर्णिमा तिथि में व्यतिपात योग में सोमवार के दिन सूर्य के मेषराशि में स्थित होने पर बृहस्पति के सिंहराशि में स्थित होने पर यदि कोई मनुष्य क्षिप्रा के जल में स्नान करता है सुमेरु पर्वत के समान सौ सुमेरु के दान के समान पुण्य प्राप्त करता है ।

अस्मिन् पर्वणि कुम्भनाम्नि महतो दूरात् प्रदेशाज्जनाः
प्रच्छन्ना मुनयो महर्षय इहाऽऽयान्ति द्विजाः सप्रजाः ।
आचार्या धनिनो गृहस्थितिजुषः सन्तोमहान्तश्च ते
क्षिप्रास्नानमुपेत्य पुण्यचरिता धन्यं जनुः स्तन्वते ॥२॥

इस कुम्भ पावन पर्व के समय बड़े दूर प्रदेशों से लोग, गुप्त रूप से मुनि महर्षि और अपने सन्तान से युक्त द्विज लोग आते हैं आचार्य धनी, सद्गृहस्थ, सन्त, महान्त आदि सभी पवित्र आचरण वाले लोग क्षिप्रा नदी में स्नान करके अपने धन्य जन्म की स्तुति करते हैं ।

उक्तञ्च- **''अद्याऽपि प्रथितं प्रसारितमिदं माहात्म्यमत्यद्भुतं**
व्याप्तेयं परितः प्रथा प्रतिमहाकुम्भं महामेलकम् ।
साधूनां गृहिणां सताञ्च महतां श्रद्धाऽन्वितप्राणिनां
स्नानं द्वादशवार्षिकं भवति तद्गांगेऽत्रशिप्राऽम्भसि ॥

परञ्च- **श्रद्धादृग्रहितो न पश्यति जगत्यालोकभास्वद्गुणे**
भक्तिज्ञान-विहीन-योगकलनासक्तो यथा योगिराट् ।
ब्रह्मानन्द बहिर्मुखोऽपि लभते सौख्यं न गार्हस्थ्यजं

तद्वन्मानव आश्रमादिभगवत्तीर्थेषु तादृग् गुणम् ॥
दुग्धे सर्पिरिवाद्भुतं रसमयं तीर्थेषु दिव्यं महः
प्रच्छन्नं, गुरु वेद (देव) शास्त्रपटले पित्रोः पदाऽभ्यर्चने ।
श्रद्धावान् सुकृती तथाऽनुकृतिमान् यादृक् समभ्यासिनः
स्वाचार्यैर्विधिना तनोत्यपचितिं प्राप्नोति तादृक्फलम् ॥

और आकर श्रद्धालु सद्भक्त सद्गृहस्थ लोग स्नान दान जप पाठ भगवद्दर्शन भागवतों का सत्संग समागम-आलाप, कथा-उपदेश विशेष के श्रवण, मनन, ध्यान-उपासनादि के द्वारा प्रतिक्षण यजन-आराधन अतिथि गण संसेवनादि अनेक भगवान् को प्रसन्न करने वाली सत्कर्म प्रक्रिया को सम्पन्न करके अनेक पुण्यक्षेत्र भ्रमणादि अनेक तीर्थभूतस्थलों के अवलोकन से समुपलब्ध सौभाग्य रूप सत्फल वाले अलौकिक सिद्धि को प्राप्त करके अपने-अपने जन्म के सौभाग्य से प्राप्त अवसर को सार्थक करते हैं कहा भी गया है- आज भी यह अत्यद्भूत माहात्म्य प्रथित और प्रसारित है प्रत्येक महाकुम्भ के महामेले में चारों तरफ यह प्रथा व्याप्त है यहाँ की गङ्गा क्षिप्रा में हर बारह वर्ष में साधुओं, सद्गृहस्थों, सज्जनों, महापुरुषों और श्रद्धालुओं का स्नान होता है ।

धर्मार्थकाम मोक्षाणां प्राप्तये हेतुरुत्तमः ।
श्रद्धाभक्तिस्तथाऽऽसक्तिर्गुरूपसरणं मतम् ॥
न विना श्रद्धयायुक्तः प्राप्नोति पुरुषः
क्वचित् स्वयं भगवता प्रोक्तं श्रीकृष्णेन महात्मना ॥
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥''

किञ्च- **''श्रद्धामयोऽयंपुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।''**

इत्यादि गीतायामुक्तम् ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में उत्तम हेतु श्रद्धा, भक्ति आसक्ति और गुरु शरणागति कहा गया है श्रद्धा से युक्त हुए बिना कोई भी पुरुष कहीं भी कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता है स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो भगवत्परायण, इन्द्रिय संयमी एवं श्रद्धावान् होते हैं उन्हें ज्ञान की प्राप्ति होती है वे भी श्रद्धालुगण किसी से असूया न करते हुए समस्त

कर्मों से मुक्त हो जाते हैं और भी- यह परमात्मा श्रद्धास्वरूप है जो जिसमें श्रद्धा करता है वह वही बन जाता है ।

''मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे, दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।
यस्य यादृग्विधा श्रद्धा सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

उक्तञ्चगीतायाम्- **''अज्ञश्चाऽश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥''**

उक्तञ्च- **''सद्भक्ताः सद्गृहस्थाः स्नपनरचनया दानमानादिधर्म,**
व्यापारानाश्रयन्तो नियमजपतपः सञ्चरन्तो महान्तः ।
विद्वांसो वैष्णवाऽग्र्या हरिगुणगृह्णन् श्रद्धयाऽऽराधयन्त-
स्ते नित्यं साधयन्तो जगदुपकृतितां, तोषयन्त्यम्बुजाक्षम् ॥''
''नाऽस्ति श्रद्धासमं पुण्यं नास्ति श्रद्धासमं सुखम् ।
नास्ति श्रद्धासमं तीर्थं संसारे प्राणिनां नृप ! इत्युक्तम् ।

मन्त्र, तीर्थ, द्विज, देवता, ज्योतिर्विद, वैद्य और गुरु इनमें जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसको वैसा फल प्राप्त होता है । प्रायः श्रद्धा से रहित पुरुष निन्दा का पात्र होता है ऐसा व्यक्ति कहीं ठहर भी नहीं पाता है गीता में कहा गया है- अज्ञानी और अश्रद्धालु संशय युक्त होने के कारण विनाश को प्राप्त होते हैं श्रद्धा से युक्त होकर भिल्लकुमार एकलव्य श्रीद्रोणाचार्य जी के समीप गया जब उन्होंने शिष्य बनाने, शर और धनुष, सन्धान करने और कराने से मनाकर दिया तब उसने उसी द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करके उसी के सामने धनुर्विद्या का अभ्यास किया और अपनी अति श्रद्धा के कारण अद्वितीय धर्नुधारी हो गया । और भी, समृद्ध श्रद्धा को हृदय में धारण करके भक्तवर हिरण्यकशिपुनन्दन सुकुमार श्रीप्रह्लाद जी ने परम आनन्द को प्राप्त किया जिसके लिए स्वयं साक्षात्परमब्रह्म परमात्मा खम्भे से श्रीनृसिंह के रूप में प्रकट हुए । इसी प्रकार पञ्चवर्षीय बालक श्रीध्रुव ने भी माता सौत सुरुचि के वाग्बाण से आहत होकर अत्यन्त तीव्र तप करके दुर्लभ अभूतपूर्व सिद्धि सबसे श्रेष्ठ व वरिष्ठ ज्येष्ठ स्थिति, भगवदनुकम्पा से परिपूर्ण सर्वोच्च और अक्षय्य ध्रुवपद को प्राप्त करके ध्रुव नाम को सार्थक कर दिया । जिसके चारों तरफ समस्त ज्योतिष चक्र परिक्रमा करते हैं ।

यह सब हृदय में बढ़ी हुई श्रद्धा का ही फल है और जो श्रद्धा से विहीन थे दुर्योधनादि शिशुपालादि उनकी क्या स्थिति हुई यह शास्त्रों और पुराणों में विस्तार से वर्णित है इसलिए जो अपना मानसिक अथवा कायिक कल्याण चाहते हैं और अपने जीवात्मा का उद्धार चाहते हैं तो उनको हर तरह से श्रद्धा का ही समादर करना चाहिए ।

कहा भी है सद्‌भक्त और सद्‌गृहस्थ स्नान दान अतिथियों के सम्मानादि धर्म व्यापार को करते हुए, सन्त महान्त आदि नियम, जप और तप करते हुए वैष्णव शिरोमणि विद्वान् श्रद्धा से भगवान् के गुणों का गान करते हुए, नित्य जगत् का उपकार करते हुए कमलनयन भगवान् श्रीहरि को प्रसन्न करते हैं । अत: श्रद्धा से ही सब कुछ सिद्ध होता है श्रद्धा के बिना किया गया जो कोई भी कर्म दान, सम्मान, जप होम, भगवान की पूजा अतिथि सत्कार, लौकिक अथवा धार्मिक व्यवहार प्रसार परोपकार आदि ये सब अस्त व्यस्त और निरस्त ही हैं अप्रशंसनीय तथा नष्ट तुल्य ही हैं पद्मपुराण में भी-हे राजन् ! संसार में प्राणियों के लिए श्रद्धा के समान कोई पुण्य नहीं है श्रद्धा के समान कोई सुख नहीं है और श्रद्धा के समान कोई तीर्थ नहीं है ऐसा कहा गया है ।

इसी बीच किसी ने स्वामी जी से पूछा क्यों स्वामीजी ? अनन्य भक्त को अपने इष्टदेव को छोड़कर किसी दूसरे देवी और देवता का परम भक्ति और श्रद्धा से प्रणाम, सम्मान अथवा भजन करना चाहिए कि नहीं ? यहाँ क्या उचित होगा ?

भक्तजनों के जिज्ञासा के विषय प्रश्न को सुनकर मुस्कराते हुए स्वामी जी बोले हे भागवत श्रद्धालुओं ! आप सब सुनें- यद्यपि सती स्त्री की तरह भगवान् के भक्तों का भगवान् के साथ नित्य सम्बन्ध होता है इस कथन में कोई वैमत्य नहीं है जैसे- सती साध्वी स्त्री सर्वभाव से हर प्रकार से अपने स्वामी की सेवा करती है किन्तु वह अपने स्वामी के मित्रों की अवहेलना नहीं करती है । और न ही उनका अपमान करती हैं न ही समय पर कभी भी उनको भोजन, जलपानादि से उनके सम्मान से विरत होती है बल्कि वह निरन्तर आये हुए अतिथियों का सरस मधुर वचनों और शुद्ध पौष्टिक पदार्थों के द्वारा भी यथावसर सत्कार करती है उससे उसका सतीत्व नष्ट नहीं होता है अपितु उत्तरोत्तर बढ़ता ही है । इसी प्रकार भगवान् के अनन्य भक्तों की

भी स्थिति होती है, वही वास्तव में हर दृष्टि से भक्त होता है जो अपने आराध्यदेव को ही अनेक रूप में प्रकट समझकर सबकी उसी रूप में अर्थात् इस समय में हमारे स्वामी उपस्थित हैं ऐसा निश्चय करके उसकी उपासना करें । अपने इष्टदेव से किसी को भी भिन्न न मानकर उसकी उपेक्षा न करे अपितु उसको प्रमाण करे सम्मान करे, उसकी पूजा करे, क्योंकि भगवान् सर्वरूप और सर्वनामा है श्रुति कहती है- परमात्मा ने नाम और रूप को स्वीकार किया वहीं सत् और त्यद् हुआ, सब वही है वह सर्व रूप है इत्यादि ।

इसीलिए भगवान् के अनन्य वैष्णव भक्त सर्वत्र अपने इष्टदेव को ही देखते हैं, समस्त देव मूर्तियों में भी अपने इष्टदेव का ही दर्शन करते हैं किं बहुना- भगवान् के द्वारा रची हुई इस सृष्टि में समस्त वस्तु भगवद्रूप है केवल व्यवहार की सिद्ध के लिए नाम और रूप भिन्न भिन्न है वस्तुत: सर्वत्र सर्वरूप से भगवान् ही विद्यमान है अत: सबको स्वसेव्य भगवान् समझकर नमस्कारादि करना चाहिए तभी उसका अनन्य भक्तत्व सिद्ध होगा अन्यथा नहीं । सब में भेद बुद्धि करने पर असद् का अभिनिवेश होने से असत् ही सिद्ध होगा वह भी अपने सिद्धान्त से विचलित हो जायेगा । किञ्च वह अपने समुपास्यदेव को तादृश अनन्त शक्ति सम्पन्न अथवा साक्षात् परब्रह्म नहीं मानता है एकस्वरूप से ही ध्यान किये जाने पर वह केवल तद्रूप ही होगा, सर्वरूप नहीं फिर वह सामर्थ्यविहीन भी हो जायेगा अर्थात् उसमें अनेक रूप धारण करने का सामर्थ्य नहीं है । तस्मात् वह अंशभूत है एक ही स्वरूप में सीमित है अल्पशक्ति जीववत् विशिष्ट जीव है वह साक्षात्पूर्ण पुरुषोत्तम परात्पर ब्रह्म अथवा अगणित परमानन्द निरवधि सच्चिदानन्दस्वरूप नहीं है अत: पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के समुपासक वैष्णवों को सर्वत्र एक भाव रखना चाहिए ।

जो सब जगह समभाव रखता है और सबको मुझमें देखता है इति अर्थात् समस्त जड़जंगमादि में व्याप्त अपने आराध्य देव को और सम्पूर्ण विश्व को अपने इष्टदेव भगवान् में जो देखता है प्रणाम करता है पूजा करता है ध्यान करता है सम्मान करता है वही श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर वैष्णव है । जहाँ कहीं व्यवहारदोषदूषित अन्त:करण वाले, वैसी ही बुद्धि वाले लोगो से उत्तेजित खिन्न, दुष्टों के संसर्ग में आविष्ट दूषित प्रतिक्रिया से उत्पन्न दुर्भावना

से भावित अन्तरात्मा वाले जो गुरुदेव संसार प्रवाह में पतित होने के कारण यदा कदा अपने शिष्यों को ऐसा उपदेश देते हैं कि अपने इष्टदेव को छोड़कर दूसरे देवी देवताओं को प्रणाम न करो, अपने विरोधि सिद्धान्त वाले के पास न जावे जैसे- हाथी के द्वारा ताड़ित होने पर भी जैन मन्दिर में न जाओ इत्यादि । यह सिद्धान्त अत्यन्त घोर विरोधि लोगों के कलुषित भावना का द्योतक होने से ठीक नहीं है किन्तु उनके सम्पर्क से अपना सुनिश्चित दृढ़तर भाव भी दूषित होगा कदाचित् उनका अनुकरण भी होगा इसलिए कीचड़ लगाकर फिर धोने की अपेक्षा कीचड़ का स्पर्श न करना ही ठीक होगा यही उचित है क्योंकि मनुष्य मात्र का स्वभाव क्षणभर में बदलने वाला होता है कदाचित् अपनी परम्परा के प्रति अथवा अपने इष्टदेव के प्रति भी कहीं श्रद्धा कम न हो जाय, जीव के अल्पज्ञ होने से, दूसरे को व्यामोहित करने वाले वाक्य समूह में पड़ जाने से, दूषित संसर्ग से जनित जो दुर्भावना तद्रूपिणी पिशाची से ग्रस्त होने से अस्थिर और दृढ़ता रहित बुद्धि के होने से ऐसा हो सकता है ।

इसलिए कालचक्रानुरूप ही वैसे गुरुओं के उस प्रकार के उपदेश होने से वैसी भावना हो सकती है परन्तु वास्तव में पूर्व में जो सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि सर्वत्र अपने इष्टदेव को ही विराजमान मानकर भगवान् के उस प्रकार के लीलामय विग्रह के धारण करने से, अपने भक्तों की प्रसन्नता के लिए उसकी उस प्रकार की श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए भगवान् की भी वैसी ही स्थिति होती है अर्थात् जो जो सकाम भक्त जिस जिस देवता के स्वरूप का श्रद्धा और भक्ति युक्त होकर अर्चन पूजन करना चाहता है उस भक्त की देवता विषयक उस श्रद्धा को मैं अचल स्थिर कर देता हूँ । मेरे द्वारा स्थिर की हुई उस श्रद्धा से युक्त हुआ वह उसी देवता के स्वरूप की सेवा पूजा करने में तत्पर होता है और उस आराधित देव विग्रह से कर्मफल विभाग के जानने वाले मुझ सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा निश्चित किये हुए इष्ट भोगों को प्राप्त करता है अत: सर्व समर्थ भगवान् स्वभक्त जन एवं परिजनों की प्रसन्नता के लिए अपने भक्तों के भावना के अनुरूप स्वरूप धारण और दर्शनादि का लाभ प्रदान करते हैं क्योंकि भगवान् सर्वरूप है । इसलिए अविपक्व वासनाबुद्धि वाले मनुष्यों के लिए वैसा प्रयोग प्रचार सामयिक है क्योंकि चर्षणीसंज्ञक जीव ही वैसे स्वभाव वाले होते हैं, वेश्या

स्त्रियों की तरह एक को छोड़ कर दूसरे का आश्रयण करते हैं वेश्याओं का किसी एक मानव में अनुराग नहीं होता है उसी प्रकार वे भी किसी एक देव में स्थिर अनुराग वाले नहीं होते हैं अतः वैसे लोगों के लिए वैसे उपदेश की भी आवश्यकता होती है जिससे उनका नियमनपूर्वक बुद्धि की दृढ़ता और किसी एक देव में सुदृढ़ स्नेह बढ़े ।

इस प्रकार सारगर्भित सर्वसम्प्रदाय सिद्धान्त निर्णीत उत्तर को सुनकर सभी सम्प्रदाय के अनुयायी सन्तुष्ट और प्रसन्न हो गये सर्वोत्कृष्ट आनन्द में विलीन हो गये । सद्भावना भावित अन्त:करण वाले सभी भक्तों ने श्रद्धापूर्वक स्वामी जी की पूजा की ।

इस प्रकार उज्जयिनी को प्रणाम करके वहाँ से स्वामी जी ने वहाँ के लिए प्रस्थान किया जहाँ सर्वदा श्रीयशोदा जी की गोद में लालित नन्दनन्दन सर्वदा आनन्द कन्द श्रीव्रजराजकुमार श्रीकृष्ण अपनी नित्य-आनन्द विलासमयी लीला का विस्तार करते हुए नाचते हुए, गाते हुए प्रतिक्षण विहार करते हैं उस अनन्य भगवत् स्वरूपिणी गोलोमयी चौरासीकोश वितता गोलोकविहारी जी की ब्रजभूमि का दर्शन करने की इच्छा से उज्जैन से नागदा, कोटा नगर को भी अपने चरणरज से पवित्र करते हुए साक्षात् भगवान् की लीला स्थली व्रजभूमि में प्रवेश किया । वहाँ सम्पूर्ण लोक का ललामस्वरूप, साक्षात् श्रीनन्दनन्दन श्रीगोपिकाजन मनोरञ्जन, व्रज युवति कुल के नयनों के अञ्जन, सच्चिदानन्दकन्द श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के रज से पवित्र, ब्रह्मा की सृष्टि से परे अद्भुत-अलौकिक सृष्टि स्वरूप श्री मथुरा को श्रीयमुनाजी से समलंकृत पूर्व भाग को देख देखकर अत्यन्त-आनन्द में डूब गये और स्वामी जी के मुख मण्डल प्रेमाश्रुयों से परिरञ्जित हो गया ।

चौवालीसवाँ परिच्छेद

भावाऽनुभावपरिशोधितमानसाऽन्तः संस्थापिताऽमितरसाब्धितरंगितान्ताः ।
आनन्दकन्दयदुनन्दनवन्दनाद् यच्चेतोऽलिरञ्चति मुदं दधतीक्षणेन (ईक्षणेन) ॥

क्रमशः परिक्रमा करते हुए स्वामी जी ने श्रीगोकुल, श्रीवृन्दावन, मधुवन, श्रीगोवर्धन पर्वत, श्रीकाम्यवन, श्रीनन्दिग्राम, श्रीराधिकाजन्मस्थली बरसाना को देख देख करके अत्यन्त प्रसन्न होते हुए प्रमोदवन के समीप पहुँचकर प्रमुदित होते हुए चारों तरफ विराजमान अनेक तीर्थों का अवलोकन करते हुए जगह-जगह पर भगवन्नामसंकीर्तन, भगवच्चरित्र-माहात्म्य का प्रकाश और भगवान् की लीलाओं का वर्णन करते हुए,

श्री 'कलिन्दगिरिनन्दिनी स्नपनसान्ध्यसेवाविधिं,
प्रभात कलिताऽऽसनश्वसनरोधयोगक्रियाम् । समाधिरत -
भाविताऽवनिसुताप्रियप्रीणनं प्रतिक्षण विलक्षण प्रवचनानि चक्रुः स्वयम् ॥

प्रातःकाल श्रीयमुनाजी में स्नान, सन्ध्यावन्दन, श्रीठाकुरजी की सेवा, आसन, प्राणायाम, समाधि और समाधिस्थ जानकीनाथ भगवान् की प्रसन्नता का सम्पादन करते हुए और प्रतिक्षण स्वयम् विलक्षण प्रवचन किया । श्रीवृन्दावनधाम श्रीकृष्ण का अत्यन्तप्रिय एवं श्रीराधिका के प्रणयकेलि का निकुञ्ज होने से अतिरम्य है यहाँ के अत्यन्त इष्ट अलिपुञ्जों से परिरञ्जित कुञ्जों में रासेश्वर श्रीकृष्ण रासविलास और हासों का आश्रयण करते हैं । सेवाकुञ्ज में वीणा जैसी सुन्दर कण्ठ से गीतों के अपने गुञ्जन के द्वारा प्रियाजी के मान और व्रजगोपियों को रति एवं अधरामृतपान के द्वारा आनन्दित करते हुए, वीणा, मृदंग, पणव, ढोलक और वेणु के नाद के मध्य में प्रिया और प्रियतम का सुन्दर प्रणयजन्य प्रवाद, कादम्ब, कीर, हंस, पिक (कोयल) और भ्रमरों के नाद के बहाने ललित नृत्य में अनुभाव को प्रकट करते हुए विविध लीला करते हैं । यदि कोई भक्तराज हो, भगवान के लीला रस से सिंचित शरीर धारी हो भगवान् की कृपा से प्राप्त दिव्य दृष्टि सम्पन्न हो तो वह आज भी अलौकिक रस से युक्त भगवत्स्वरूप भगवान् की दिव्य लीला को देख

सकता है । हजारों बिजली जैसी दिव्य गौरांगी गोपियों से घिरे हुए सद्योन्मुखवृष्टि वाले काले मेघ जैसे दिव्य कान्ति से युक्त श्याम सुन्दर जिनकी लीलाएँ मञ्जु एवं मनोहारी हैं वे लीलारस एवं अपने प्रणय के निर्झरी को उल्लसित करते हुए गोपियों के समुदाय का सम्मान बढ़ा रहे हैं त्रिभुवन में उत्तम और रम्या कीर्ति है जिसकी, प्रकर्षेण ऊँची एवं चमचमाती हुई पताकाएँ है जिसकी, उस वृन्दावन में प्रियाप्रियतम नन्दनन्दन और श्रीराधाजी का व्रज देवियों के साथ नित्यविहार होता है । माधव और कीर्तिकुमारी का नित्य-अन्तरङ्ग-रतिरङ्ग विलास हास प्रकाशित होते हैं वहाँ षड्राग, रागिनीगण, ऋतुगण, प्रमोद, लीला, कला आदि सब देह धारण करके क्रीड़ा करते हैं ।

इस प्रकार स्वयं ही आनन्द सागर में निमग्न रहने वाले, भौतिक प्रपञ्चों के बन्धनों से मुक्त, भगवत्प्रेम के बन्धन में बंधे हुए, ऐहिक और पारलौकिक समस्त साधन क्रियाकलाप को भूलने वाले, कल्पना से परे परमानन्द लाभ जन्य महामोद प्रमोद के समुद्र पारंगत होते हुए भी पुनः सङ्गत की तरह प्रतीत होने वाले, शीघ्र ही सुषुप्ति से जगे हुए की तरह प्रतीत होने वाले, ब्रह्मानन्द में निमग्न रहने वाले स्वकीय जाग्रत् अवस्था में उपस्थित की तरह भक्त भावुक समाज के मध्य में स्थित, अपनी भावना भक्ति भगवल्लीलानन्द के वर्णन, प्रचार प्रसार में प्रवचनामृत की देवनदी गंगा प्रवाहित करने वाले भगवान् के गुणों का अनुसन्धान करने वाले स्वामी जी ने भावुक भक्त वरिष्ठों को सम्बोधित करके भक्तिरसामृत का पान कराया ।

तदनन्तर एक बार श्रीयमुनातट के निकट अत्यन्त एकान्त अनेक लतापताओं के वितान से आवृत गुल्मों के निकुञ्ज में निवास करने वाले निर्गुण ब्रह्मानन्द के अनुभव से पवित्र मन वाले सम्पूर्ण मानसों के राजहंस स्वरूप परमहंस यथानाम तथा गुण श्रीकृष्ण विरहीजी महाराज ने विश्व प्रसिद्ध प्रशंसनीय गुणों के निलय स्वामीजी का अतिथि के रूप में सम्मानित करने के लिए निमन्त्रित किया । महामहिमा वाले परमहंसों के पवित्रतम कुटीर का सेवन करने की इच्छा से ही स्वामीजी ने अतिशय प्रीति प्रदर्शनपूर्वक उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया । इस प्रकार दोनों की परमहंस और परिव्राजक का परस्पर सम्मिलन अन्यून ही रहा, प्रेमपूर्वक अतिशय उल्लसित

पारस्परिक अन्योन्य सम्मिश्रणजन्य आनन्दरूपी दोनों नद्वियों गंगा और यमुना का अभूतपूर्व सुन्दर संगम हुआ ।

उस समय एकादशी का दिन था नियमानुसार फलाहार की व्यवस्था हुई । मध्याह्नकाल के अनन्तर सन्ध्या वन्दन-आराधन नित्यनियम कृत्य एवं आह्निक व्यापार से निवृत्त होकर फलाहार के लिए जब उपयुक्त आसन पर जैसे ही आसीन हुए वैसे ही सभी सन्त महात्मा उसी समय परमसौभाग्य से समायोजित स्वत: ही अत्यन्त अद्‌भुत वैसे महात्माओं परम हंसों का एकत्र समागम हुआ है ऐसा कर्ण परम्परा से चारों तरफ फैले हुए समाचार को सुनकर शातकर्मसमाराधनके लिए इकट्ठे हुए सैकड़ों नागरिक ग्रामीण, दर्शनेच्छु, भिक्षु, याचक और महात्मा सत्सङ्ग समागममहोत्सव को देखने के लिए और उन महात्माओं के प्रवचन सुधा का पान करने के लिए यूथ के यूथ उपस्थित हो गये । परन्तु वे नहीं जानते थे कि वे सम्मान्य आचार्यचरण अभी तक फलाहार नहीं किये हैं इति अत: वे सब परस्पर वार्तालाप करते हुए पास में ही सघनवृक्ष की छाया में स्थित हो गये । उसी समय ही स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने भोजन के समय समुपस्थित दर्शक भक्तों को देखकर स्वयं ही उनके समीप आकर भोजन कर चुके उन सभी भक्तों को भगवान् के प्रसाद का आस्वादन करने के लिए प्रेरित करते हुए उनको पंक्तिबद्ध होने का आदेश दिया इसके पहले जिनके तप के प्रभाव को नहीं देखा है ऐसे महात्माओं का दर्शन करके मधुरतम वाणी में आदेश सुनकर श्रद्धा एवं विनम्रता से अत्यन्त प्रणय रस में निमग्न की तरह आदेशानुसार पंक्तिबद्ध हो गये । भृकुटी के इशारे मात्र में ही वहाँ सन्तों ने शीघ्र ही सबको दोना पत्तल बांट दिया वहीं स्थित होकर स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने अपने हाथ मे लिये हुए फलाहार पात्र से ही अनेक विध कन्दमूल फलादि से विनिर्मित सर्वविध फलाहार सामग्री को अपने हाथ से ही परोस दिया । परोसने के बाद तुरन्त भोजन पाने का आदेश दिया और यथारूचि फलाहार सामग्री लेने का आग्रह किया और इच्छानुरूप जितनी भूख हो, उतनी सामग्री विना संकोच के भगवत् प्रसाद सेवन हेतु आग्रह किया और उसी प्रकार सभी परम श्रद्धा से साक्षात् भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भगवान् को ही परोसने में लगे हुए फलाहार भोज्य सामग्री से भरे पात्र को हाथ में धारण किये हुए देखकर अत्यन्त विस्मित उन्हीं अविस्मित मुख कमल से नि:सृत मधुर मधुमय

वचनामृत के आनन्द से आनन्दित कर्णकुहर वाले, भगवत्पाद के करकमलों से परोसे गये अपूर्व रस से संसिक्त मधु क्षीर द्राक्षा मिश्री, सैकड़ों मधुर रस से उल्लसित पदार्थ समूह का आस्वादन करके अलौकिक आनन्द का अनुभव करने वाले लोगों के साथ वार्तालाप करने वाले फिर यहाँ भक्तों के परिरक्षण में हरक्षण तत्पर अपने साथी के जैसा व्यवहार करने वाले समुपस्थित व्रज बालक मित्र वृन्द की तरह सभी को सन्तुष्ट करने वाले साक्षात् आनन्द की मूर्ति लोगों को अपार-आनन्द में निमग्न करने की इच्छा वाले ही स्वामी रामानन्द जी स्वयं श्री कृष्ण के आनन्द के प्रभाव को धारण करने वाले हमारे नेत्रों के विषय हुए हैं । इस समय अहो भाग्य है हम लोगों का इस प्रकार मानने वाले लोगों ने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष चमत्कार देखा । दूसरे समुपस्थित सभी सज्जनों ने देखा कि हाथ में छोटे से पात्र में ही फलाहार सामग्री है, केवल एक मानव के खाने योग्य सामग्री थी उसी थोड़ी सी सामग्री से सभी सैकड़ों आये दर्शकों की इच्छानुसार तृप्ति हो गयी, जिनमें कुछ ऐसे महात्मा भी थे जिन्होंने पहले फलाहार नहीं पाया था उनको भी इच्छानुरूप सुखपूर्वक अपूर्व सामग्री के समुपभोग का सौभाग्य प्राप्त हुआ । ऐसा महान् आश्चर्यजनक चमत्कार लोगों ने देखा । ऐसा विस्मयकारक समाचार कर्ण परम्परा से सर्वत्र फैल गया उस समय दूसरे दिन स्वामी जी के दर्शन हेतु दूर दूर से दर्शनार्थी, श्रद्धालु, भावुक, व्रजभक्त, नागरिक, ग्रामीण और वनवासी भी आकर प्रत्यक्ष दर्शन करके परमानन्द में निमग्न और तृप्त हुए । इस प्रकार जगद्गुरु रामानन्दाचार्य भगवान् ने कुछ दिन तक व्रज में भी भगवद्दर्शनजन्य आनन्द को प्राप्त किया ।

पैंतालीसवाँ परिच्छेद

उसके बाद भगवान् नन्दनन्दन के श्रीचरणारविन्दपराग परिमल से सुरभित व्रजभूमि से प्रस्थान की कामना से अपने परिकर समूहों के साथ स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी ने चौरासी लाख योनियों के जन्म मरण जन्य श्रम से मुक्त करने वाले परमभुक्ति भरने वाले जहाँ मुक्ति सर्वत्र प्रसृत है ऐसे निकाम सुन्दर व्रजधाम को श्रद्धापूर्वक भक्ति के कारण प्रद्वीभूत चित्त से प्रणाम करके परमानन्द में निमग्न होकर अवशिष्ट चित्रकूट पर्वत की विशिष्ट यात्रा को सम्पन्न करने हेतु प्रस्थान किया उस समय विन्ध्य-इलापर्वत के निकट में स्थित उपत्यका के अन्तर्गत विन्ध्य-इलाखण्डमण्डल में स्थित अर्थात् बुन्देलखण्ड में स्थित राजाओं से अत्यधिक आग्रहपूर्वक बार-बार प्रार्थित होने पर बुन्देलखण्ड के राजाओं को सन्तुष्ट करने की कामना से सर्वत्र उन उनके मन का सन्तुष्ट करके तत्तद् राज्य सीमाओं को सुशोभित करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त सेवा को स्वीकार करके उनके राज्य में क्रमशः कहीं एक दिन कहीं दो दिन निवास करके भगवान् के श्रीचरणों की अनुरक्ति को बढ़ाते हुए अपने भगवद्भक्ति विषयक प्रवचनों से सर्वत्र भक्ति रस की नदी को प्रवाहित करते हुए सम्पूर्ण प्रदेश को पवित्र करते हुए स्वेष्ट श्रीराम सीता लक्ष्मण के चरण कमल के पराग राग से रञ्जित, विचित्र चरित्र एवं चित्र से समलंकृत प्रदेश परमरम्य प्रणम्य विशेष रूप से प्रवेशार्ह श्रीचित्रकूट में पहुँचकर स्वामी जी ने ''चातुर्मास्य महाव्रत की समाराधना हेतु चार महिने तक निवास हेतु सुन्दर व्यवस्था किया ।

चित्रं चित्रविचित्रकूटपटलं श्रीचित्रकूटाऽभिधं
श्रीमद्रामपदारविन्दमकरन्दानन्दसन्दोहदम् ।
यत्र श्रीजनकात्मजा ह्यहरहो वासं विधाय स्वयं
साक्षाच्छ्रीरिव यस्य कीर्तिममलां तीर्थोत्तमेष्वातनोत् ॥

चित्र विचित्र कूट समूह जहाँ विराजमान हैं जो श्रीमद्राम चरणारविन्द मकरन्दजन्य आनन्द राशि को प्रदान करने वाला है जहाँ साक्षात् लक्ष्मी की भाँति श्रीविदेहनन्दिनी श्रीसीताजी निवास करके जिसकी विमल

कीर्ति को उत्तम तीर्थों में फैला रही है वह यह विचित्र श्रीचित्रकूट है। इसीलिए यहाँ चातुर्मास्य में भगवान् की अर्चना, आराधना आदि करना चाहिए।

इस समय आप लोग देखें कि निर्गुण यह आकाश चारों तरफ से सगुण सा हो गया है इस समय बादलों की अद्‌भुत नवीन सृष्टि सर्वत्र आकाश में फैली है। अद्‌भुत गन्धर्व नगर बसता हुआ सा दर्शकों के मन को हरण करता है। चारों तरफ फैले हुए निराकार होते हुए भी अनेक आकार वाले बादल नये नये अभिनेता की भूमिका प्रस्तुत करते हैं आकाश में। कहीं कहीं मतवाले हाथियों के झुण्ड की तरह अद्‌भूत छटा का विस्तार करते हैं कहीं कहीं आकाश में जलधर मेघ टेढ़ी मेढ़ी आकृति में मगरमच्छ की तरह प्रतीत होते हैं कभी कभी सूर्य किरण समूहों से सम्पृक्त प्रकाश युक्त सुवर्ण पर्वत सुमेरु की तरह ऊँचे शिखर वाले सुमेरु के भाई की तरह प्रतीत हो रहे हैं सद्योन्मुख वृष्टि बादल। अपने प्रियतम के बहुत काल के विरह से शोकाकुल कामिनी नारी की तरह समुपस्थित अपने प्रियतम के दर्शन के उल्लास से उद्‌भूत हंर्ष के कारण जिसकी रोमावली पुलकित हो रही है ऐसी कामिनी सी नये नये घास के अंकुरों की उत्पत्ति से प्रकाशित आनन्द में निमम्न की तरह मानों हरे रंग का वस्त्र धारण किया हो इस तरह सम्पूर्ण पृथिवी हो गयी। वहाँ का कामदगिरि पर्वत भी सम्पूर्ण कामनाओं को प्रदान करने वाला हो गया है। वह भी श्रेष्ठ वृक्ष एवं लताओं की पंक्तियों से सुशोभित, सम्पूर्ण पुष्पकन्द मूलफल की समृद्धि से बढ़ा हुआ सिद्ध की तरह सेवा में उपस्थित सैकड़ों शोभा से घिरा हुआ प्रतीत होता है। वहाँ के समस्त लौकिक भोगविलासों से जो विरक्त और जो समाधि में निरत हैं वे भी सन्त महात्मा "स्वामीजी श्रीचित्रकूट में चातुर्मास्य व्रत का अनुष्ठान करेंगे" यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्नमना होकर मानस से उल्लसित होने वाले परमहंस के सत्संग का समास्वादन के लिए छिपे हुए होने पर भी प्रकाश को पाकर सुहृदों की तरह इकट्ठे हो गये।

बहुत दूर प्रदेश से भी सत्सङ्ग रङ्ग के रसिक परम भागवत, नागरिक, सन्त और महान्त वहाँ इकट्ठे हो गये। चारों तरफ चित्रकूट की उपत्यका में नये-नये कुटियों की रचना हो गयी, वनस्थली सुन्दर नगरस्थली हो गयी। उस समय चित्रकूट भी सन्तों महान्तों और साधुओं का अभिनव नगर सा भासने लगा। उसके मध्य में उन्नत प्रान्त में श्रीस्वामी जी के लिए

परमहंस के योग्य, सम्पूर्ण उपासना साधन से परिपूर्ण, सञ्चित सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाली मनोहारी सुविशाल पर्णकुटी बनायी गयी । पास में सेविका की तरह सत्सङ्गिजनों के बैठक की तरह भगवद् रंग स्थली की तरह सत्संग स्थली शोभा दे रही थी । जहाँ प्रतिदिन आकर भावुक भगवद्भक्त अपूर्व सत्सङ्गानन्द का अनुभव करते थे ।

एक बार प्रसङ्गवश ईश्वरवाद और अवतारवाद की चर्चा प्रवचन में चलपड़ी तब स्वामी ने कहा-कि इसके ऊपर तो पहले ही मैंने बहुत कुछ कहा है पूर्व के परिच्छेदों में इसका सम्यक् प्रतिपादन किया है तथापि संक्षेप से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सभी कार्य किसी न किसी कर्ता से ही उत्पन्न होते हैं कोई भी कार्य बिना कर्ता के उत्पन्न नहीं हो सकता । साधारण से साधारण कार्य में भी कर्ता की अपेक्षा होती है ऐसी स्थिति में अनेक प्रकार मत, अनन्त अवितर्कित, अचिन्त्य, अद्भूत, जल, स्थल नक्षत्रादि रूप, जड़ चेतनात्मक, अपरिमित, भूतलमय, जलमय, तेजोमय, वायुमय, आकाश रूप अनेक आकार और अनेक नाम रूपात्मक, वाणी और मन से परे यह जगत् स्वत: नहीं हो सकता, और नहीं न्यून अथवा अधिक रूप से वैसा हो सकता अथवा ठहर सकता है अत: इस जगत् का रचयिता कोई न कोई अवश्य होना चाहिए जो इस जगत् का कर्ता है वह कोई सामान्य नहीं हो सकता अत: अनन्त शक्तिमान् सर्वसमर्थ सर्वज्ञ जो जगत् का कर्ता है वही ईश्वर है वही कर्ता भर्ता विशेष धारण करने वाला और संस्थापक है अन्त में इस जगत् का लय स्थान भी वही है इसमें अनेकों श्रुतियाँ प्रमाण हैं तथापि-हे सौम्य ! सृष्टि के पूर्व केवल सत् था, सृष्टि के पूर्व केवल असत् था । वह अकेले रमण नहीं कर सकता है उसने अपने से द्वितीय की इच्छा प्रकट की, उसके बाद में देखा, अपने से अन्य कुछ भी देखा तब इच्छा किया कि "मैं एक से बहुत हो जाऊँ" उत्पन्न करूँ ? वह सद् और त्यद्रूप हो गया तदनन्तर पति और पत्नी हो गया । इतना ही था । इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि भगवान् ही सबके उपादान कारण हैं इसी प्रकार निमित्त कारण भी भगवान् ही हैं इस कथन की प्रतिपादक श्रुतियाँ भी हैं।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।"

उक्तञ्च- ''पृथिव्यां यस्तिष्ठन् यमयति स पृथ्वीं तदधिगो-
य एवान्तर्यामी ह्यमृतवपुरात्मेत्याखिलपः
स रामो विश्वात्मा चिदचिद्भिरूपस्त्रिजगतां
विधाता सन्त्राता निखिलविनियोक्ता नियमनः ॥
''परं ब्रह्मेत्युक्तः श्रुतितितिभिरेषः प्रतिपदं
विबोध्यः प्राणानां भजति परमाधारपदवीम् ।
प्रधानात्मा सैषः क्षरममृतमेवाऽक्षरमथोऽ व्ययः
सैवैकोऽभूत् स हि चिदचिदीशाऽऽख्यतनुभृत् ॥

तथाहि ये प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोग से, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं- जीवनोपयोगी क्रिया करने में समर्थ होते हैं और महाप्रलय के समय जिनमें विलीन हो जाते हैं उनको वास्तव में जानने की इच्छा कर, वे ही पर ब्रह्म है । इत्यादि ब्रह्मसूत्रों में भी- इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और भङ्ग जिससे होता है, एवम् शास्त्र में वेद में) उस ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है । इसी प्रकार जहाँ क्रमिक सृष्टि का वर्णन है वहाँ भी सबके आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा से पहले आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु तत्त्व, वायु से अग्नितत्व, अग्नि से जलतत्त्व, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई, पृथिवी से नाना प्रकार की औषधियाँ अनाज के पौधे हुए और औषधियों से मनुष्यों का आहार अन्न उत्पन्न हुआ, उस अन्न से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई है और भी गीता में भी स्वयं भगवान् दिखा रहे हैं कि मैं ही सबका उत्पत्ति स्थान है मुझसे ही सब कुछ प्रवृत्त होता है ।

और भी परम भागवत अर्जुन को अपने विराट् रूप में सम्पूर्ण जगत् दिखा रहे हैं अर्जुन ! आज यहाँ एक में ही स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत् को देखो इति भगवान् श्रीराम ही सकल चराचर के कर्ता, नियन्ता और संस्थापक हैं शास्त्रों में- कहा गया है । इसलिए वही भगवान् श्रीराम सर्वेश्वर सर्व नियामक सर्वचराचरभूत सर्वत्र सभी और सर्वरूप होते हुए लीलानन्द विग्रह, अगणित सच्चिदानन्द स्वरूप क्रीड़ा करते हैं सम्पूर्ण संसार ज्योतिर्लोक और काल चक्र नियमानुसार उसके निर्धारित क्रम से स्वयं ही प्रवृत्त होते हैं । दिन प्रतिदिन अपने-अपने समय में क्षण भर भी नियम का व्याघात नहीं करते हैं । प्रतिदिन अपने निर्धारित समय पर सूर्य उदित होता है और अपने निर्धारित

समय पर चन्द्रमा भी अपनी किरणों को फैलाकर रात्रि जन्य अन्धकार को धोता है । वायु हमेशा बहती है, अग्नि भी प्राणी मात्र से भुक्त अन्नादि को सबके जठर में स्थित होकर पचाती है पृथिवी सर्वदा ही विश्व को धारण करती है अनादि समृद्धियों को उत्पन्न करके सम्पूर्ण विश्व का पालन करती है पृथिवी । समुद्र पर्वतादि भी मर्यादा की परितः रक्षा करते हैं अधिक क्या कहें- समयानुसार ऋतुएँ भी समय समय पर प्रतिवर्ष अव्याहत गति से क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर सर्वदा चराचर जगत् की सेवा करते हैं अपने अपने कर्म क्रियाकलापों एवं अपने-अपने व्यापारों से ।

यह भी सबके लिए सम्पूर्ण जगत् स्थितिका समाराधक भगवान् के द्वारा भावित धर्म चलाया गया है । उसी के अनुसार सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं ।

''धत्ते सर्वं जगद् भूतिरीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी ।
सैव धर्मो हि सुभगे ! नेह कश्चन संशयः ॥''

किञ्च :- **प्राप्नुवन्ति यतः स्वर्गमोक्षौ धर्मपरायणाः ।**
मानवाः मुनिभिर्नूनं स धर्म इति कथ्यते ॥ इति ।

तन्त्र शास्त्रों में भी वचन आया है कि हे सुभगे ! जो सम्पूर्ण जगत् को धारण करती है वह भगवान् की अलौकिक इच्छा ही धर्म है इसमें कोई सन्देह नहीं है । जिससे मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है उसी को मुनि लोग निश्चय ही धर्म कहते हैं । धर्म की व्याख्या भी पूर्व परिच्छेदों प्रसङ्गत; किया ही गया है तथापि फिर से सूचित करते हैं- सबको धारण करने वाला होने से धर्म को धर्म कहते हैं विश्व ब्रह्माण्ड को धारण करता है अथवा चर अचर सभी को धारण कराता है अथवा लोगों के द्वारा धारण किया जाता है इसीलिए उसे धर्म कहते हैं ऐसी व्याख्या से सिद्ध होता है कि बिना धर्म के किसी भी पदार्थ की स्थिति सुस्थिर नहीं हो सकती है धर्म ही स्थिति का स्थापक प्रवर्तक और सर्वविध व्यापार का मूल है । सर्वाधार होने से धर्म ही मर्यादा रक्षक स्वरूप प्रतिपादक और संस्थापक है जैसे हमेशा चलना वायु का धर्म है इसीलिए वायु की उत्पत्ति सर्वदा वातीति वायुः है । उष्णता तेज को धारण करना तेज का धर्म है अग्नि का ज्वलनादि । इसी प्रकार जल का आप्यायन धर्म है अतः ईश्वर से उद्‌भावित होने पर भी यह

भगवान को प्रिय अथवा प्रियतम है सबका सन्धारक होने से । क्योंकि भगवद् धर्म ही भगवत्स्वरूप भगवान् से अभिन्न भगवद्रूप और सृष्टि का प्रवर्तक है इसी के रक्षा का भार भगवान् ने अपने ऊपर लिया है धर्म के सर्वव्यापक होने से । क्योंकि सर्वव्यापक जो होगा वही व्यापक धर्म की रक्षा भी करेगा । इसी धर्म की रक्षा के लिए भगवान् का प्रादुर्भाव होता है । जब भी धर्म पर किसी प्रकार का संकट आता है अथवा धर्म नाशोन्मुख होने लगता है अथवा प्रबलतम धर्म ध्वंसियों के द्वारा, दैत्य दानवादि मर्यादा के विघातियों के द्वारा जब धर्म पर संकट आते हैं तब भगवान् स्वयं प्रकट होकर स्वात्मशक्ति से हर प्रकार से धर्म की रक्षा, दुष्ट और विध्वंसियों की शक्ति का उन्मूलन और धर्म रक्षकों की रक्षा करते हैं गीता में कहा भी है-

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ इति ।
पुनश्च परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
''तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदाश्रया: ।
''तत्कर्माण्येव शोचन्ते प्रत्यक्षमुपयन्ति हि ॥''

हे भरतवंशी अर्जुन ! जब जब ही वेदोक्त धर्म की ग्लानि-क्षीणता होती है और अधर्म की उन्नति होती है तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ । और भी- मेरे रूप में ही निरन्तर निष्ठावाले मेरे दर्शन की ही इच्छा से युक्त एवं दर्शन के बिना अत्यन्त व्याकुल चित्त साधुओं को अति मनोहर अपने स्वरूप का दर्शन कराकर रक्षा करने के लिए और दुष्ट कर्म करने वाले रावण कंसादि के विनाश करने के लिए और मेरी आराधना रूप वैदिक धर्म की स्थापना के लिए युग युग में देव मनुष्यादि के रूप में प्रकट होता हूँ । परन्तु यह भी प्रयोजन बाह्य दृष्टि से ही मर्यादित है धर्मद्रोहियों का विनाश करना और धर्म की रक्षा करना । वस्तुत: भगवान् परमकारुणिक और भक्त वत्सल हैं भक्तों की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए स्वकीयजन मन: कामना के अनुरूप अपने स्वरूप का दर्शन कराने के लिए हर प्रकार से अपने भक्तों को आनन्द प्रदान करने के लिए सर्वदानन्दमयी स्वलीला के अवलोकन जन्यसौख्य समृद्धि को प्रदान करने के लिए ही उन भक्तों के साथ अपना भी मनोविनोद करने के लिए अपनी दैवी सृष्टि के वैशिष्ट्य का

प्रख्यापन करने के लिए, दैवी गुण सम्पन्न भक्तों को आनन्दप्रदानपूर्वक सर्वविध भक्तों के मन:तोष के लिए ही भगवान् का प्रादुर्भाव होता है तथाहि भक्त अनेक प्रकार के गुण और प्रकृति के अनुरूप होते हैं- सात्विक, राजस, तामस, अपने गुण के अनुरूप उपासना भी करते हैं । सात्विक लोग सत्व गुण धर्मों से सेवा करते हैं । राजस लोग रजोगुण से प्रेरित प्रक्रिया के द्वारा, तामस लोग अपने-अपने भाव, प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुरूप रागद्वेषभावनामय काम क्रोध लोभ मोहमद और मात्सर्य के उद्रेक से संबंधित द्वेष विशेष से परिरञ्जित ही भजन करते हैं तामसी लोगों का यह भजन सर्वात्मना अनन्य भाव से तादात्म्य रूप समृद्धि फल को प्रदान जैसे करता है वैसा सात्विक अथवा राजस भक्तों का भजन तथाविध अनन्य भावना मय नहीं होता है तामसी लोग सर्वात्मना द्वेष करते हुए दिन रात भगवान् के साथ विरोध का चिन्तन करते हुए प्रतिक्षण अपने सम्मुख भगवान् को देखते हुए उन्हीं में मन को लगाते हुए, उन्हीं से वार्तालाप करते हुए, तदनुरूप क्रिया करते हुए तदाश्रित उन्हीं कर्मों को सोचते हुए प्रत्यक्ष ही उनको प्राप्त कर लेते हैं । यथा अनन्य भक्त श्रीगोपीजनादि कामभाव से भगवान् की उपासना करते हैं तथैव ये सब द्वेषभाव से उपासना करते हैं यथा भगवान् के भक्त असुर दैत्य, दानव, विद्वेषी होते हैं हर समय अनन्य भाव से शत्रुरूप में भजन करते हैं वैसा अनन्यभाव भजन देवादि नहीं करते हैं । अत एव उन भगवद् विद्वेषी विरोधी तामस भक्तों राक्षसों के समुद्धार के लिए साक्षात्स्वरूप से अवतीर्ण होकर उनका उद्धार करते हैं भक्त वत्सल भगवान् । उन्हीं के माध्यम से धर्मरक्षा और भक्तरक्षा स्वत: होता ही है विरोधि तत्त्वों के उन्मूलन से ।

किञ्च भगवान् ने सृष्टिक्रम को सर्वदा ही प्रवर्तमान और स्वत: संवर्द्धनशील रखने के लिए जीवों की उस प्रकार की प्रवृत्ति, मनोभावना कर्मासक्ति और बाह्यवृत्ति को प्रसारित किया और प्रवर्तित किया । उसी से जीव संसार के संसरण व्यापार में व्यापृत होकर ही रहें जिससे सृष्टिक्रम अव्याहत गति से चलता रहे । इसीलिए प्राणियों के लिए पराङ्मुखप्रवृत्ति वाली इन्द्रियों की रचना करके उन्हें प्रदान किया तथाहि- स्वयंभू ब्रह्मा ने इन्द्रियों को पराङ्मुखी बनाया है इसीलिए ये केवल बर्हिमुख होकर बाह्य पदार्थों को ही देखती हैं अन्त: पदार्थों सूक्ष्म पदार्थों को नहीं । इसलिए संसार

में तथाविधकर्म में आसक्त जीव स्वयं सुख दु:ख के साधनों को करता है और निरन्तर जन्ममरणादि का अनुभव करता हुआ निरन्तर अक्षुण्ण सृष्टि प्रक्रिया को प्रवृत्त करता रहे । वह कहीं आत्म कल्याण के लिए प्रवृत्त न हो ।

परन्तु परमकारुणिक भगवान् ने स्वयं ही दयार्द्र हृदय होकर जीव की मुक्ति के लिए सहज उपाय को भी सरलता से दिखाया कर्म, ज्ञान, भक्ति-उपासना । उसके प्रतिपादक अनेक शास्त्रों की रचना की । बर्हिमुखीवृत्ति वाली इन्द्रियाँ कैसे अन्तर्मुखी हों इसके लिए भी अत्यन्त सरल उपाय दिखाया है । जिससे मनुष्य स्वयं ही तथाविध चक्र में पतित होने पर भी स्वोद्धार के लिए कर्म कर सके । इसीलिए भगवान् ने बन्धन और मोक्ष के कारण रूप प्रेम का सर्जन किया । प्रेम के द्वारा ही मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है और प्रेम के द्वारा ही मुक्ति भी पा लेता है । और उसका मूल कारण सभी इन्द्रियों का अध्यक्ष मन है तभी तो साक्षात् अव्यय पुरुष परमात्मा की पाँच कलाओं में मन मध्यम कला रूप है । यथा- अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ- आनन्द कला, विज्ञान कला, मन:कला, प्राणकला और वाक्कला इति ।

यहाँ मन शब्द लोक प्रसिद्ध मन का वाचक नहीं है वह मन तो देहादि के उत्पत्ति के उत्पत्ति काल में बहुतवाद में उत्पन्न हुआ । यह मन तो अव्यय पुरुष की तीसरी कला सभी तत्त्वों का आदिभूत है अत्यन्त सूक्ष्म, सूक्ष्मावस्थारूप, श्वोवसीयस नामरूप, वेद में प्रसिद्ध है । वृहदारण्यकोपनिषद् में उसने मन को बनाया इत्यादि से प्रतिपादित मूल तत्त्व से प्रकट जो तन्मन ही है उसी प्रकार ऋग्वेद संहिता में भी- यहाँ भी सर्वप्रथम स्वेच्छा से प्रवृत्ति सहित मन की उत्पत्ति दिखायी गयी है अत: मन ही मोक्ष का साधन और बन्धन का हेतु है गीता में भी कहा गया है इसीलिए अव्यय पुरुष की पाँच कलाओं के मध्य में स्थित जो कला है वह मन ही है क्योंकि कला दोनों कर्म की साधिका होती है जब मन अध: प्रवृत्ति का होता है तब अपने बाद वाली प्राण कला और वाक्कला में सम्मिलित होता है जब मानव की सृष्टिक्रम के अनुरूप प्रवृत्ति होती है तब वह सृष्टिकर्म के अनुसार संसार चक्र में पड़ा हुआ जीव कर्म के बन्धन में आ जाता है तब वह जैसा आचरण करता है वैसे ही कर्म में बंध जाता है इस प्रकार बन्धन का कारण मन होता है ।

जब मन की प्रवृत्ति अपने से पूर्व में स्थित विज्ञान कला और आनन्द कला से सम्मिलित होता है उस समय जीव विज्ञान से आनन्दकला में निलीन होकर साक्षात् भगवत्स्वरूप को प्राप्त होता है तब वह मुक्त ही है इसलिए मोक्ष का साधक मन है । इसलिए भगवान् जीवों के सम्यक् उद्धार करने की इच्छा से अपना करुणा वरुणालयस्वरूप प्रकट करते हैं जीवों के उद्धार करने के लिए भगवान् मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का विस्तार करते हैं उसके बाद स्वयं अनुग्रह करते हैं स्वयं ही वरण करते हैं कहा भी है- यह जिसको ही वरण करता है उसी से प्राप्य है दूसरों से नहीं ।

यद्यपि सृष्टि परम्परा को परिचालित करने के लिए बहिर्मुखी इन्द्रियों का निर्माण किया किन्तु जब जीव उससे खिन्न होकर अपनी मुक्ति की कामना करता है तब उसके लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति के ज्ञापक शास्त्रों की रचना की । तदनुरूप प्रवृत्त जीव अपनी रूचि के अनुरूप प्रवृत्तिमय उपाय को स्वीकार करें अथवा निवृत्तिमय उपाय को, सभी प्रकार के साधन और फल शास्त्रों में वर्णित ही है जो अच्छा लगे वह करे वहाँ भी भगवान् की इच्छा ही कारण है उपनिषदों में कहा गया है कि यह प्राण एवं प्रज्ञारूप चेतन परमात्मा ही इस देहाभिमानी पुरुष से साधु कर्म करवाता है वह भी उसी से करवाता है, जिसे इन प्रत्यक्ष लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है तथा जिसे वह इन लोकों की अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है उससे असाधुकर्म करवाता है "तथापि भगवान् जीवात्मा की स्वेच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं करवाते हैं वे तो केवल प्रवर्तक और समुपदेशक हैं किन्तु जीव अपने-अपने कर्म करने में स्वतन्त्र हैं वह तो अपने पूर्वजन्म के संस्कार के अनुरूप ही आचरण करता है जब वह कहीं भ्रान्त एवं खिन्न होता है और विशुद्ध भाव से अपनी मुक्ति का उपाय भगवान् की शरण चाहता हूँ उसके उस प्रकार के दृढ़ निश्चय को जानकर प्रभु उसे प्रेरित करते हैं उस प्रेरणा के अनुसार वह जीव व्यवहार करता है तब वह भगवान् के सम्मुख होता है और मुक्त होता है अतः भगवान् से निर्दिष्ट कर्तव्य-अकर्तव्य तत्फल को जानकर यदि जीव प्रवृत्त होता है तब वह मुक्त होता ही है कहा भी है-

उक्तञ्च- **"ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।**
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।" -(गीतायां ३।३१)

''ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नाऽनुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥'' -(गीता ३।३२)

जो मनुष्य श्रद्धावान् और असूयारहित होकर मेरे इस मत का नित्य अनुष्ठान करते हैं वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं (गीता ३.३१) यही मोक्ष का साधन है और भी- ये जो विरुद्ध आचरण करते हैं वे बन्धन में बंध ही जाते हैं- जो दोष दृष्टि वाले मूर्ख लोग इस मेरे मत के अनुसार नहीं अनुष्ठान करते हैं उन सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहितचित्त वालों को तू कल्याण से भ्रष्ट हुए ही जान ॥ गीता ३.३२

इस प्रकार विपरीत प्रवृत्ति वाले जीव स्वच्छन्दाचरण में आनन्द का अनुभव करते हैं जो सर्वदा इच्छानुरूप आचरण करते हुए निरन्तर पापाचरण में ही रत रहते हैं सर्वत्र सर्वदा पापों का संग्रह ही करते हैं सर्वथा धर्माचरण का परित्याग करते हैं जब धर्म के छोड़ने से और अधर्म के प्रवर्तक से पृथिवी भी भार से आक्रान्त हो जाती है जब धर्माचरण परायण लोगों की गति सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है और महान् महासंकटों से युक्त हो जाती है धर्म स्थान, देवालय और तीर्थ जब दूषित हो जाते हैं अत्यन्त पापियों से जब कुलस्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं कुल को दूषित करने वाले कर्म जब होने लगते हैं और वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होने लगते हैं सर्वत्र पापाचार फैलने लगता है गायें काटी जाती हैं, शिष्टाचार सन्मार्ग परम्परा का जब उन्मूलन होने लगता है ब्राह्मण देवादि जब सताये जाते हैं और जब भगवान् की भक्ति के साधन नष्ट किये जाते हैं और जब सज्जन साधु और धर्म के आधारभूत प्राणी दुःखी होते हैं तब भक्तों के वशवर्ती भक्त भावना के अनुरूप भगवान् पृथिवी पर अवतीर्ण होते हैं पुनः धर्म की संस्थापना के लिए प्रत्येक युग में मैं प्रकट होता हूँ साधु सन्तों के परित्राण के लिए'' इत्यादि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार । यही भगवान् के अवतार का प्रयोजन है ।

(१) यहाँ यदि कोई अवतार के विषय में शंका उत्थापित करे कि- यदि भगवान् कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथाकर्तुम् सर्वशक्तिमान् है तो वे पृथिवी पर क्यों अवतीर्ण होते हैं वहीं स्थित होकर ही स्वेच्छा से अभीष्ट क्यों नहीं कर लेते हैं ? उत्तर- इसके लिए मैंने पूर्व में ही बता दिया था कि भगवान् स्वात्म विनोद के साथ ही अपने सर्वविध सात्विक, राजस और तामस भक्तों के उद्धारार्थ, उनके अभीष्ट की पूर्ति हेतु और भक्तों के मनोरञ्जनार्थ ही

भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं साक्षाद्दर्शन देकर उनके साथ विविध क्रीड़ा करके, परस्पर वार्तालाप करके, उनका सहयोग करके, भक्त जैसी जैसी कामना करते हैं उसी के अनुसार भगवान् उनकी सेवा करते हैं अपनी प्रतिज्ञानुसार जैसे गीता में- जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरणागति स्वीकार करता है उस भक्त की मैं भी उसी प्रकार से सेवा करता हूँ।

जो मित्रभाव से भगवान् के साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं उनके साथ भगवान् भी वैसे ही मित्र भाव से उनकी सेवा करते हैं श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में बाल क्रीड़ा के समय बाह्य वाहक क्रीड़ा करते समय स्वयं भगवान् भी- 'उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजित:'' अर्थात् पराजित श्रीकृष्ण ने अपने मित्रवर श्रीदामा को अपने पीठ पर चढ़ाकर स्वयं घोड़ा बनकर उसको भाण्डीर वन तक ढोया इति भक्तों को आनन्दित करने के लिए भगवान् वैसा करते हैं जो गोपी अपना पति समझकर भजती हैं भगवान् भी उनकी वैसी ही सेवा करते हैं और जो कंसादि दैत्य शत्रुभाव से उनका भजन करते थे भगवान् ने भी उनका वैसे ही भजन किया क्योंकि वे तामस भक्त युद्ध के प्रेमी थे चाणूर मुष्टिक शल तोशल प्रलम्बादि पहलवान् मल्लयुद्ध क्रीड़ा की अभिलाषा करते हुए शत्रुभाव से भगवान् को भजते थे अत: भगवान् भी उनको वैसे ही मल्ल बनकर मल्लक्रीड़ाभिरत होकर उनके साथ मल्ल की तरह युद्ध करके उनको मारकर अपने में आत्मसात् कर लिया और उनको मुक्ति भी दे दिया इसलिए यहाँ सन्देह नहीं करना चाहिए कि भगवान् का अवतार क्यों होता है ? भक्तों को आनन्दित करने के लिए उनको सन्तुष्ट करने के लिए ही अवतार होता है।

(२) अवतार ग्रहण करने से भगवान् की भगवत्ता अथवा शक्तिशालिता नष्ट नहीं होती है जैसे लोक में सम्राट् अथवा सकल राजेश्वर अपने बालकों के साथ अपने मनोविनोद के लिए अथवा उनके सन्तोष के लिए यदि मित्र भाव को स्वीकार करके क्रीड़ा करता है तो क्या उसका साम्राज्य संचालकत्व अथवा राजराजेश्वरत्व नष्ट हो जायेगा ? कदाचित् बालकों के अनुरञ्जन से किसी का महत्व कम नहीं होता अपितु उससे उसकी बालप्रियता और वत्सलता ही सिद्ध होती है इसी प्रकार भगवान् का भी भक्तवत्सलता समझनी चाहिए।

यहाँ पृथिवी पर जब भगवान् अवतीर्ण होते हैं तब उनका प्राकट्य ही होता है सामान्य मनुष्य की तरह गर्भवासादि कष्ट का अनुभव करके किसी माता के गर्भ से जन्म नहीं होता है अपितु उस समय जैसे तड़ागादि में सर्वत्र कुमुदिनी के फैल जाने पर अथवा चारों तरफ शैवाल के फैल जाने पर जल के रहने पर भी जल दिखायी नहीं देता है और जब शैवाल को हटा देते हैं तब जल भी प्रकट होकर दिखायी देता है इसी प्रकार भगवान् के सर्वत्र विद्यमान होने पर भी उनकी कृपा के बिना अज्ञान रूप शैवाल के हटे बिना भगवान् का दर्शन नहीं होता किञ्च भक्तों की इच्छा के अनुरूप भगवान् का प्राकट्य ही अवतार है । भगवान् का हर समय प्राकट्य ही होता है न कि सामान्य मनुष्य की तरह जन्म । जहाँ कहीं जन्म से व्यवहार देखा जाता है वह तो लोकव्यवहार की दृष्टि से ही सभी भक्तों के मनोविनोद के लिए महामहोत्सव समाराधन के लिए ही है जैसे श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी, वामन द्वादशी नृसिंह, चतुर्दशी आदि । इन दिनों में मनुष्य की तरह भगवान् का जन्म नहीं होता अपितु तत्काल प्राकट्य ही यहाँ जन्म शब्द से कहा गया है भागवत के दशम स्कन्ध में- जन्म मृत्यु के चक्र से छुड़ाने वाले जनार्दन के अवतार का समय था निशीथ-अर्द्धरात्रि चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य था उसी समय सबके हृदय में विराजमान भगवान् विष्णु देवरूपिणी देवकी के गर्भ से प्रकट हुए, जैसे पूर्व दिशा में सोलहों कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो गया हो । फिर वही माता स्तुति करती है और स्वरूप को देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हो जाती है श्रीवसुदेव जी कहते हैं- प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् और सबके स्वामी है इस संसार की रक्षा के लिए ही आपने मेरे घर अवतार लिया है फिर भयभीत होकर निवेदन करते हैं- यह कंस बड़ा दुष्ट है इसे जब मालूम हुआ कि आपका अवतार हमारे घर होने वाला है तब उसने आपके भय से आपके बड़े भाईयों को मार डाला अभी उसके दूत आपके अवतार का समाचार उसे सुनायेंगे और वह अभी-अभी हाथ में शस्त्र लेकर दौड़ा आयेगा । देवकी भी- हे विश्वात्मन् ! आपका यह रूप अलौकिक है आप शंख चक्र, गदा और कमल की शोभा से युक्त अपना यह चतुर्भुज रूप छिपा लीजिए इसी प्रकार श्री कौसल्या जी भी श्रीराम के स्वरूप को देखकर प्रार्थना करती हैं- कि भगवन् ! आप सामान्य बालक स्वरूप को धारण करके मेरे जैसे भक्तों को अनुरञ्जित करें तब प्रकट हुए

ठाकुरजी मन्दमन्द मुस्कराते हुए अपने माता-पिता से कहते हैं- कि मेरे इस रूप का दर्शन आप लोगों के पूर्वजन्म की स्मृति के लिए हुआ है नहीं तो मेरे प्राकट्य का ज्ञान मनुष्य को नहीं हो सकता । अत: सर्वत्र भगवान् का प्राकट्य ही हुआ है प्राकट्य को ही जन्म शब्द से कहा जाता है जैसे जब पूर्व दिशा में चन्द्रमा का आर्विभाव होता है तो लोग कहते हैं चन्द्रोदय हो गया इसी प्रकार भगवान् के प्रादुर्भाव के विषय में जानना चाहिए ।

जब माता सर्वात्मना भगवान् की बाल लीला देखने की इच्छा से प्रार्थना करती है कि मैं आपके इस योगि ध्येय रूप को नहीं चाहती हूँ मैं आपके बालरूप का लालन पालन करना चाहती हूँ इति तब भगवान् तत्काल ही प्राकृत बालक बन जाते हैं और रोने लगते हैं यह बात शास्त्रों में स्पष्ट वर्णित है ।

(३) किञ्च जन्म और प्रादुर्भाव में भी महान् अन्तर है क्योंकि प्रादुर्भाव तो स्वतन्त्र और स्वेच्छानुरूप होता है और जन्म तो कर्मबन्धन के अधीन ही होता है यदि दोनों में महान् भेद है भगवान् के प्रकट होने में जन्मादि बन्धन कारण नहीं है अपनी इच्छा के अनुरूप शरीर धारण करने से ।

(४) किञ्च यहाँ यह भी शंका नहीं करना चाहिए कि जैसे निर्विकार जीव शरीर धारण करने से शरीर से सम्बद्ध होने से विकारी हो जाता है इसी प्रकार भगवान् को भी शरीर धारण के कारण विकारी होना चाहिए ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि भगवान् प्रकृति से परे हैं अत: प्राकृतिक गुण भगवान् का स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं जैसे अग्नि में गिरे हुए तिनके अपने प्रभाव को अग्नि पर नहीं डाल पाते हैं बल्कि जलकर भस्म हो जाते हैं वैसे ही भगवान् सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वसमर्थ हैं अत: प्राकृत गुण भगवान् में प्रभावी नहीं हो सकते क्योंकि आत्मा (शरीर) भगवान् के धर्म से समुद्भूत है अर्थात् भगवान् के नित्य धर्म है सत्चिद् और आनन्द । इन्हीं से माया भी स्वयं सृष्टि के लिए उन सत्व, रज और तम रूप गुणों को स्वीकार करती है किन्तु जीव तो अल्पज्ञ है भगवान् के जैसे शक्तिमान् भी नहीं है इसीलिए माया के गुण जीव को अपने वश में

कर लेते हैं । जीव स्वयं ही प्रकृति के गुण बन्धन में गिर जाता है इसीलिए विकारी हो जाता है सर्वज्ञ वैसा नहीं है ।

(५) किञ्च यहाँ ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए कि भगवान् तो निराकार हैं वे साकार रूप से कैसे अवतीर्ण होंगे ? यदि वे साकार ही हैं तो निराकार कैसे होंगे ? इति- देखो भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय हैं साधारण मनुष्य की तरह भगवान् एकरूप ही नहीं है और न ही प्रकृति जन्य एक प्रकार का प्राकृत रूप सर्वथा अपरिवर्तनशील रूप धारण करते हैं अपितु भगवान् स्वतन्त्र और अनेक आकार वाले हैं इसलिए उनका एक प्रकार का कोई सुस्थिर आकार नहीं है जिससे वह उसी आकार में प्रकट हो । जैसे मनुष्य मनुष्य के आकार में है वह पशु के आकार का नहीं हो सकता है पशु मनुष्य के आकार का नहीं हो सकता है लेकिन भगवान् तो अनन्त सिर, अनन्त नेत्र और अनन्त पाद वाले हैं तब वे कैसे एक आकार मात्र वाले होंगे । यदि कहें कि तब भगवान् निराकार कैसे कहे जाते हैं उत्तर- जिससे सभी आकार प्रकट होते हैं उसे निराकार कहते हैं अर्थात् उसी भगवान् से ही सभी प्रकार प्रकट होते हैं प्रतीत होते हैं वह भगवान् स्वयं ही सर्वाकार और सर्वरूप हैं श्रुति भी कहती है- मैं एक हूँ बहुत रूप में प्रकट हो जाऊँ ॥ वही नाना रूप हो गया, वही प्रत्येक रूप में प्रकट हुआ है निश्चय ही यह विशाल आकारवान् वह था वही सब का सर्वरूप है इत्यादि । जिस परमात्मा के संख्यातीत असंख्य आकार हो सकते हैं उसको किस आकार का, किस आकार से और किस नाम से पुकारा जाय अतः एक आकार वाला न होने से ही उसे निराकार कहा जाता है अर्थात् जैसे हम लोग प्राकृत गुण के अनुरूप आकार वाले हैं वैसे भगवान् नहीं है । वे तो प्राकृत गुण धर्मादि-आकारादि से भिन्न प्राकृत धर्म के अनाश्रय और अप्राकृत निखिल धर्मरूप है अतः प्राकृताकार से हीन होने से निराकार है वे तो मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर और नभश्चर आदि अनेक रूप हैं तो उनका कौन सा एक आकार कहा जाय अतः निराकार कहते हैं और सर्वाकार और सर्वरूप होने से वे साकार भी है इसलिए विरुद्ध धर्माश्रय हैं वे मनुष्य रूप में भी है

और पशु रूप में भी है जैसे नृसिंह । वे मनुष्य रूप भी, मछली रूप भी, वाराह रूप भी है अत: कैसे वे हैं ? न मनुष्य है न पशु है किन्तु उभय रूप है इसलिए लौकिक व्यवहार शून्य हैं बहुरूप होते हुए भी अरूप हैं ।

(६) किञ्च समय-समय पर विविधि अवतार ग्रहण करने पर भगवान् में एक रसत्व कैसे स्थित होगा ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि भगवान् सर्वदा एक रस होते हुए भी समुद्र की तरह अनेक रस और गुण से युक्त भी है जैसे एक प्रकार का जल नींबू के वृक्ष से पीये जाने पर नींबू के रस के आकार का हो जाता है आम्रवृक्ष के द्वारा पीये जाने पर आम्ररस हो जाता है अंगूर लता के द्वारा पीये जाने अंगूर के रस का हो जाता है इसी प्रकार रस भी नाना रूप को धारण करता है इसी प्रकार भगवान् श्री अनेक रस, गन्धादि रूप हैं भगवान् की महिमा का वर्णन श्रुति भगवती करता है वह परमात्मा सब कुछ है सर्वरस, सर्वगन्ध, सर्वरूप और सब कुछ उसी से प्रकट हुआ है ।

(७) कुछ लोगों के मन में ऐसी शंका होती है कि जब भगवान् भूमि पर अवतीर्ण होते हैं तब उनका निजस्थान गोलोक, साकेत अथवा बैकुण्ठ भगवान् से खाली रहता है क्योंकि भगवान् तो एक हैं वे तो उस स्थान को छोड़कर पृथिवी पर आ गये हैं ?

कहते हैं कि ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि भगवान् तो सर्वत्र व्यापक सर्वदा विराजमान सर्वरूप और सर्वगत है यह सब कुछ उसी से प्रकट हुआ है इस श्रुति से भगवान् की सर्वत्र स्थिति सिद्ध होती है भगवान् तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के नायक हैं, सर्वजगत् के नियन्ता हैं वे क्या किसी स्वल्पकार्यं के लिए सब कुछ छोड़कर होने वाले कार्य को सम्पन्न करने के लिए कहीं भी स्वयं स्वामी नहीं जाता है । क्या सामान्य दैत्य दानवादि के नाश करने अथवा मर्यादा की सुरक्षा हेतु सर्वांशेन अवतार लेना आवश्यक है ? यह कार्य तो अपने किसी अंश से ही सम्पादित करा सकते हैं अत: प्रत्येक युग में स्वयं साक्षात् प्रभु का अवतार नहीं होता है अपितु यत्किञ्चित् अंशेन अवतार होता है श्रीमद् भागवत और गीता में कहा भी है यदुवंश में अंशेन अवतीर्ण भगवान् नारायण के चरित्रों का वर्णन हमारे लिए

करें । साधु सन्तों के परित्राण और दुष्टों के विनाश के लिए तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में अपने को प्रकट करता हूँ ।

किञ्च- भगवान् तो सर्वव्यापक और सभी जगह स्थित है अपनी इच्छा से प्रकट और तिरोहित होते हैं जब भक्तों के ऊपर किये गये अनुग्रह से कातर (अधीर) हो जाते हैं तब स्वयं उस समय के आवरण को हटाकर प्रकट हो जाते हैं अत: सबके नेत्र के विषय हो जाते हैं और स्वयं सम्पूर्ण कार्य को सम्पादित करते हैं अन्यथा सब जगह मौजूद होने पर भी नहीं दिखायी देते हैं तिरोभवन रूप आवरण को हटाकर सबके नेत्र का विषय बन जाना ही अवतार है इसी को लोग अवतार कहते हैं अन्यथा नित्यसिद्ध भक्तों, श्रीगोपी जनों और श्रीहनुमान् जी आदि भक्तों को तो नित्य भगवान् का साक्षात्कार होता है वहाँ तो तिरोभाव है ही नहीं । यही रहस्य है, तथा च सर्वत्र रहने वाली वस्तु का कहीं अभाव नहीं होता है आवश्यकता के अनुसार भगवान् अपने अंश से पृथक्-पृथक् रूप से भी जितनी आवश्यकता होती है उतना भिन्नाकार रूप से लौकिक की तरह शरीरधारी होकर प्रकट होते हैं सर्वांश से पूर्णविग्रह रूप से और नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप से तो वे नित्य साकेत गोलोक बैकुण्ठादि नित्य धाम में रहते हैं अत: भगवान् का आविर्भाव ही अवतार और तिरोभाव ही अनवतार कहा जाता है अत: उपर्युक्त शङ्का नहीं करनी चाहिए ।

(८) इसी क्रम से सर्वदा विद्यमान भगवान् का स्वेच्छा से आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा अपने को सकल जनसाधारण के नेत्रों के विषय बनने से अवतार नाम से कहे जाने पर भी भगवान् का प्राकृत देहादि से प्रकट होने से प्राकृतदेहादि का सम्बन्ध नहीं है स्वस्वरूप से ही प्रकट होने से । प्राकृतदेहादि की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है । जैसे बन्दीगृह में प्रविष्ट कारागार में स्थित बन्दी लोगों के साथ वार्तालाप करता हुआ वहाँ कुछ क्षण ठहरकर कोई राजा वहाँ की व्यवस्था अथवा बन्दियों के अपराध को जानने की इच्छा से उस समय कारागार में उपस्थित राजा क्या बन्दी शब्द से कहा जाता है क्या वह अपराधी होने से कारागार में प्रविष्ट हुआ है । यदि ऐसा नही है तो कारागार में जाने पर भी वह बन्धन में क्यों पड़ेगा ? वह तो साक्षात् स्वयं ही बन्दीजनों का भाग्य विधाता है बन्धन और मोक्ष

देने वाला है नियमन करने वाला है वह क्षणभर के लिए कारागार में आने मात्र से बन्दी कैसे कहा जायेगा । इसी प्रकार सर्वतन्त्र स्वतन्त्र प्रभु क्षण भर के लिए अथवा कुछ समय के लिए देह धारण करके भक्तवत्सल होने के कारण भक्तों के ऊपर हुई कृपा से अधीर होकर उनके साथ क्रीड़ा करने के लिए अथव अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए भूमि के भार को उतारने के लिए ही वे अवतीर्ण हुए वे सामान्य मनुष्य की तरह देह बन्धनादि के चक्कर में क्यों पड़ेंगे । और जो भगवान् की भी देहादि धारण के द्वारा देहादि सम्बन्धी कृति देखी जाती है उसको भगवान् ने अपनी इच्छा से धारण किया है न कि सामान्य मनुष्य की तरह कर्मजन्य है अथवा प्राकृत हैं । क्योंकि भगवान् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् समर्थ है और स्पृहा और चेष्टा से रहित हैं ।

और जो लोग भगवान् के अवतार के विषय में शङ्का करते हुए ऐसा कहते हैं कि भगवान् का अवतार नहीं होता है यह अवतारवाद की कल्पना स्वकपोल कल्पित है परन्तु ऐसा कहने वाले उपेक्षणीय है क्षमा के योग्य हैं उन्होंने सत्सङ्ग नहीं किया है अल्पज्ञ होते हुए भी अपने को बहुज्ञ मानने वाले हैं ज्ञानलव से दुर्विदग्ध हैं लोकेषणादिव्यामोहाग्नि से जले हुए हैं शास्त्र चिन्तन श्रवण मनन से सर्वथा वञ्चित हैं कुटिलकुतर्ककुमति वृत्तियों के सञ्चित करने के कारण वे लोग भगवल्लीला रहस्य के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं । क्योंकि उनकी मति भ्रान्त है फिर भी उनके सन्तोषार्थ कुछ वैदिक मन्त्र प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं भगवान् के अवतार के विषय में ।

''रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय''

–ऋग्वेद मण्डल ६, अ. ४

''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्तंह्यस्यहरयः शतादश ।''

–सूत्र. ४७ का मन्त्र १८

वह परमात्मा प्रत्येक रूप से हुए इसलिये परमात्मा का शरीर हर समय ज्ञान विज्ञान सीखने के लिये है । वह परमात्मा अपनी माया से बहुत रूप बना लेते हैं । इसलिये १००० घोड़े होना सही है ।

अर्थात् परमात्मा सर्वत्र दिशाओं विदिशाओं में व्याप्त होने पर भी सबसे पहले हिरण्यगर्भादि के रूप में प्रकट हुए । वे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विराजमान होकर वही मनुष्य पशु पक्षी आदि रूप से समय-समय पर प्रकट होकर भक्तवत्सल भगवान् अपने दर्शन के द्वारा भक्तों पर कृपा करते हैं, स्वात्मा की सर्वत्र स्वव्याप्ति, सर्वरूपता और सार्वकालिकी स्थिति को प्रकट करने के लिए, सर्वत्र सर्वरूप से सर्वाकार से अपने अक्लिष्ट कर्म से अन्य शास्त्रादि साधन निर्पेक्षतया एक निमिष में ही सभी प्रकार के कार्य को सम्पादित करने के लिए अपने कृतित्व को प्रकाशित करने के लिए मत्स्यकूर्मवाराहनृसिंहादि रूप से प्रकट होकर भक्तों का पालन करते हैं दुष्टों को दण्डित करते हैं वेदों को पुन: प्रवर्तित करते हैं और धर्मादि की स्थापना करते हैं । दयासागर भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने वाले भगवान् दैवीसम्पत्ति से युक्त जीवों को आनन्दित करने के लिए सभी प्राणियों को प्रसन्न करने के लिए सभी का उद्धार करने के लिए तत्तत्प्रवृत्ति के अनुसार उन-उन जीवों को अपने सम्मुख करके, काम से, क्रोध से, भय से, लोभ से, द्वेष से अथवा वैरभाव से भक्तजनों के मन के अनुरूप अपने स्वरूप को बनाकर रजोगुणी, तमोगुणी और सतोगुणी प्रवृत्ति से परिपुष्ट मन वाले जीवों को उन-उनकी भावना के अनुसार ही स्वयं वैसा ही प्रकट करते हुए वैसा ही आचरण करते हुए उन उनके मन के अनुकूल चेष्टा करते हुए ही उनके साथ व्यवहार करते हुए उनके मन को सन्तुष्ट और उनका उद्धार करते हैं । अपने आत्मीय जनों की प्रसन्नता के लिए भगवान् कहीं-कहीं सेवक बन जाते हैं सख्य भाव को प्रकट करते हुए सारथि का कार्य करते हैं जैसे अर्जुन के । भक्त परवश भगवान् अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए पराजित होकर श्रीदामा को अपनी पीठ पर बैठाकर उसका भार वहन करते हैं और भक्तों के मनोरञ्जन के लिए यशोदा जी के बन्धन में आ जाते हैं "भगवान् ने देखा कि मेरी माता का शरीर पसीने से लथपथ हो गया है चोटी में गूँथी हुई मालाएँ गिर गयी हैं और वे बहुत थक भी गई है तब कृपा करके वे स्वयं बन्धन में बँध गये । यहाँ यह स्पष्ट है कि भगवान् ने अपनी मां को श्रान्त और खिन्न देखकर स्वयं ही बन्धन में बंध गये परन्तु पर बन्धन में नहीं अपितु अपने ही बन्धन में स्थित होकर इसलिए श्रीशुकदेव जी कहते हैं- यह गोपिका नन्दन भगवान् अनन्य प्रेमी भक्तों के लिए जितने सुलभ हैं उतने देहाभिमानी, कर्मकाण्डी एवं तपस्वियों को तथा अपने स्वरूप भूत ज्ञानियों के लिए भी नहीं है ।

अधिक क्या कहें सतो गुणी रजोगुणी और तमोगुण प्रकृति वाले भक्तों की भावना के अनुसार ही भगवान् अपने को उनके अनुभव का विषय बनाते हैं -

''मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गंगतः साग्रजः ॥'' इति
''ब्रह्मैताद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति'' इति शतपथे ।

जैसे-जिस समय भगवान श्रीकृष्ण बलराम जी के साथ रंगभूमि में पधारे, उस समय वे पहलवानों को वज्र कठोर शरीर, साधारण मनुष्यों को नररत्न, स्त्रियों को मूर्तिमान् कामदेव, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दण्ड देने वाले शासक, माता-पिता के समान बड़े-बूढ़ों को शिशु, कंस को मृत्यु, अज्ञानियों को विराट्, योगियों को परमतत्त्व और भक्त शिरोमणि वृष्णिवंशियों को अपने इष्टदेव जान पड़े । सबने अपने भावानुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, वीभत्स, शान्त और प्रेम भक्तिरस का अनुभव किया इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है- जिन्ह के रही भावना जैसी । प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥

उसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के विषय में सामवेद में कहा गया है कल्याणकारिणी श्रीजनकनन्दिनी के साथ कल्याण-कारी भगवान् श्रीराम वन गये । इस प्रकार अन्य अवतारों के विषय में भी जानना चाहिए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्रह्म इसी प्रकार सभी रूपों को धारण करता है ।

इस प्रकार अवतारवाद में शास्त्र में सैकड़ों प्रमाण हैं जो शास्त्राभ्यास से वञ्चित है ऐसे अल्पज्ञों को कहीं भी अनर्थ की शङ्का नहीं करनी चाहिए । जो इस समय हम लोगों के हृदय में शङ्का उदित हो रही है उसका कारण है- स्वाध्याय और शास्त्र मनन का अभाव । अथवा शास्त्रों में हमारी श्रद्धा नहीं है इसीलिए पूर्वाचार्यों ने कहा है- कि वेद का अध्ययन करना चाहिए । स्नातक बनने के बाद भी आचार्य उपदेश करते हैं- वेदाध्ययन में प्रमाद मत करना । अन्यत्र भी-स्वाध्याय ही सबसे बड़ी तपस्या है महर्षि वाल्मीकि

लिखते हैं-तप और स्वाध्याय में निरत । गीता में भी स्वाध्याय और अभ्यास को वाङ्मय तप कहा गया है । अतः स्वाध्याय के अभाव में ही ये कुतर्क और शङ्का का प्रवेश होता है मन में । इसलिए प्रतिदिन शास्त्रों का आलोडन विलोडन श्रद्धापूर्वक करना चाहिए ।

इस प्रकार अवतारवाद के विषय में सम्यक् प्रतिपादन करके स्वामी जी ने अपने प्रवचन को समाप्त किया । सभी लोग मन्त्र मुग्ध होकर अचानक सोकर जागने की तरह हो गये सभी सत्सङ्गी श्रद्धा से समृद्ध होकर जय जयकार करते हुए अपने-अपने स्थान के लिए प्रस्थित हुए ।

इसके बाद एक बार श्रीमान् स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने कामदगिरि की परिक्रमा करने के लिए स्वनिवास स्थान से प्रस्थान किया स्वामीजी के साथ सन्त, महान्त, नागरिक, चातुर्यामास्य विधि का सम्पादन करने वाले भक्त गण प्रस्थित हुए । धीरे-धीरे परिक्रमा करते हुए स्वामी जी वहाँ आये जहाँ भगवान् श्रीराम को फिर अयोध्या लौटा ले जाने के लिए सपरिकर श्रीभरतजी आये थे वहाँ दोनों भाईयों के परस्पर अवलोकन से नेत्रों से अचानक प्रेमाश्रुओं की नदी प्रवाहित होने लगी उस समय के उस दृश्य को याद कर करके निरन्तर श्रीराम का स्मरण करने से[१] तादूरूप्य को प्राप्त करके भगवद्भावापन्न स्वामी जी ने श्रीरामत्व का अनुभव करते हुए सामने स्थित किसी वृक्ष को ही समीप में आये भरत समझकर गाढ़ आलिङ्गन किया उनका मुखमण्डल प्रेमाश्रुओं से परिपूर्ण हो गया ।

सभी भक्त गण मण्डलाकार एकत्रित होकर उल्लासपूर्वक अपने नेता स्वामीजी की भाव से विभावित अवस्था को देखकर स्तब्ध हो गये । स्वामी जी भी उन भक्तों की स्थिति को देखकर सबको सम्बोधित करते हुए श्रीराम भरत के मिलन की कथा सुनाने लगे । अयि ! भगवद्भाव से विभावित अन्तःकरण भक्तगण ! सहृदय सुहृद्वर्य ! यह वही स्थान है जहाँ अनन्य गुणचरित परम भागवत श्रीभरतजी ने भगवान् श्रीराम को फिर अयोध्या में लौट जाने का प्रयास करने हेतु भगवान् का अनुरञ्जन करते हुए अपनी अलौकिक दास भक्ति का विस्तार करते हुए महान् आग्रहपूर्वक प्रार्थना किया । अपनी माता के द्वारा प्राप्त वरदान से सम्पूर्ण साम्राज्य को प्राप्त करके भी

---

१. भक्तयुद्रेक के अधीन होकर ।

श्रीरामचरणारविन्दमकरन्द के आस्वादन को सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ चक्रवर्ति साम्राज्य को भी श्रीराम के बिना तृण मानता हुआ विष की तरह उसका त्याग करके श्रीराम चरण को ही अपना शरण स्वीकार किया । जब तक भगवान् श्रीराम का दर्शन नहीं किया तब तक भावावेश में जनता के समक्ष उस राज्य के लिए अपनी मां को भी कटु वाक्य कहा- यदि धर्मात्माराम मुझ मातृघाती से ईर्ष्या न करते तो इस पापिनी दुष्टा कैकैयी को आज मार ही डालता ।

यहाँ महर्षि वाल्मीकि प्रत्येक पद को बड़ा सार्थक लिखते हैं- इमाम्, पापाम्, कैकेयीम्, दुष्टचारिणीम् इससे श्रीराम भक्ति से शून्य श्रीराम की द्वेषिणी कैकेयी इस समय हो गयी है । श्रीराम के प्रति दुर्भाव से भरित चित्त वाली होने से दुष्टचारिणी है इमाम् इस पद से सम्मुख स्थित अथवा (मन में) दिखायी देने वाली कौटिल्य भाव से युक्त मन वाली, क्योंकि वह कैकय देश में उत्पन्न हुई है उस देश और वहाँ के राजा के सान्निध्य से वैसी भाव वाली हो गयी है पुनश्च पापाम् पति की मृत्यु में कारण पाप कर्म में रत रहने वाली । जब भगवान् की विस्मृति होती है तब अपने हृदय में भगवान् के प्रति दुर्भाव उत्पन्न होता है तब भगवान् भी हृदय से दूर हो जाते हैं उसी समय मानव के चित्त की पापाचरण में प्रवृत्ति होती है भगवद् भाव से विमुख हो जाता है पति की हत्या जैसे पाप की भागिनी हो गयी । इसलिए वह माता कहलाने लायक नहीं रही इसलिए मातृशब्द का प्रयोग नहीं किया कैकयी ऐसा नाम उच्चारण किया । पुनश्च- धार्मिकोराम इस पद से बताया कि वस्तुतः धर्मतत्त्वज्ञानवान् श्रीराम ही है वे मुझे मातृघातक समझकर मुझ से बात नहीं करेंगे अपितु असूया करेंगे, भक्त का सर्वस्व तो श्रीराम भक्ति है सर्वात्मना भक्त के जीवन का उपाय भक्ति है न कि राज्य लाभ । वह जञ्जाल ही है इसीलिए श्रीमान् भरत ने राज्य को तृण की तरह तुच्छ मानकर श्रीराम चरण की शरण को वरण किया ।

यही भगवान् के भक्त का कर्तव्य है भगवद् भक्ति से विमुख कोई भी हो-माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, पुत्र, पति, पत्नी, चाहे कोई भी हो उसे एक बार भी बात नहीं करनी चाहिए और नहीं उसका साथ करना चाहिए ऐसे को अपना परम शत्रु समझकर दूर से ही त्याग कर देना चाहिए इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी विनय पत्रिका में लिखते हैं ।

जाके प्रिय न राम वैदेही ।

तजिये ताहि कोटि वैरी समयद्यपि परम सनेही ।।

परम भक्त श्रीभरत जी का यह सुदृढ़तर निश्चय था- जब तक श्रीराम, महाबली लक्ष्मण और महाभागा सीताजी का दर्शन नहीं कर लूँगा तब तक मुझे शान्ति नहीं होगी । कौसल्यादि सभी माताओं के द्वारा वशिष्ठादि मुनिवरों के द्वारा समझाये जाने पर भी श्रीभरत जी अपने निश्चय पर अडिग रहे ।

फिर यहाँ आकर भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण और वैदेही को जटा और वल्कल वेष में देखकर श्रीभरत जी बहुत रोये- मेरे जैसे निर्लज्ज को धिक्कार है जिसके लिए सर्वदा आनन्दस्वरूप सुखोचित भगवान् राम की ऐसी दशा हो गयी, श्रीराम के वनवासी वेष को देख देखकर अजस्त्र अश्रु प्रवाहित करते हुए भगवान् के दोनों चरणों में अपना मस्तक रखकर धैर्य छोड़कर मुक्तकण्ठ बड़े जोर से चिल्लाये भगवान् राम भी अपने आंसुओं को रोक नहीं सके प्रेम सागर श्रीभरत को देखकर श्रीराम भी रो पड़े । उन दोनों की वैसी स्थिति देखकर लक्ष्मण भी रो पड़े । सरल सहज कोमल हृदया मां जानकी भी अपने नेत्रों से प्रवाहित अश्रुधारा को अपने साड़ी के आँचल से रोक न सकी । श्रीभरत के साथ आने वाले सभी लोग रो पड़े अधिक क्या कहें जड़ भी स्तब्ध हो गये पशुपक्षियाँ रो पड़े, पत्थर भी पिघल गये । भरतजी रामजी से बार-बार यही कहते कि- हे प्रभो ! मेरे कारण ही आपको ऐसा कष्ट भोगना पड़ा है । दुरुह शोक के वेग को रोकने में असमर्थ श्रीभरत ने हाथ जोड़कर चरणों में गिरते हुए हे आर्य ! इतना ही बोल आ पाये इससे बोल नहीं पाये उनकी वाणी अवरूद्ध हो गयी, शोकोद्रेक के कारण मूर्च्छित हो गये ।

सहसा अकारण करुणावरुणालय भक्तों के लेशमात्र क्लेश को भी न सहने वाले श्रीरामजी ने समीप जाकर अपने से अभिन्न अनुज परम प्रेम मूर्ति श्रीभरत को अपने हाथों से उठाकर अपने हृदय से लगाकर भुजाओं में भरकर भातृवत्सल भगवान् ने उन्हें सान्त्वना दी । भगवान् राम भी उस समय शोकावेग से पराजित होने कारण अधिक कुछ नहीं बोल सके । उस समय का सम्पूर्ण दृश्य करुणामय ही था भक्त और भगवान् में कौन अधिक

शोकाकुल हैं यह निर्णय ब्रह्मा भी नहीं कर सकते । उस समय का चित्र और चरित्र अलौकिक था ।

इस प्रकार वर्णन करते हुए स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी स्वयं ही तन्मय हो गये उससे अधिक कुछ कहने में समर्थ नहीं हुए, उस कथा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन में आसक्त सभी भक्तजन उस समय के दृश्य को इसी समय वर्तमान में ही प्रत्यक्ष अनुभव किया भगवत्प्रेमरस से आप्लावित अन्तःकरण वाले भावुक भक्तों ने सम्पूर्ण दृश्य को प्रत्यक्ष अपने नेत्रों से देखा, स्वप्न से उठे हुए की तरह सभी आश्चर्यपूर्वक परस्पर एक दूसरे को देखकर विस्मित और स्तब्ध हो गये ।

स्वामी जी ने भी समाधि से विरत होकर सभी को सम्बोधित करके कहा- जो वास्तव में भगवद्भावुक हैं परम भागवत है वे स्वभावनाभावित अन्तःकरण महापुरुष अपने प्रियतम प्रेष्ठ को प्रत्यक्ष ही प्रकट देखते हैं जैसे गोपियाँ- मुस्कराते हुए भगवान श्रीकृष्ण उन गोपियों के मध्य से प्रकट हो गये । इस प्रकार श्रीचित्रकूट में चातुर्मास्य पूरा करके स्वामी जी ने तीर्थराज प्रयाग के लिए प्रस्थान किया ।

छियालीसवाँ परिच्छेद

श्रीचित्रकूट से प्रस्थान करके अपने शिष्यों के साथ स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी धीरे-धीरे चलते हुए मार्ग में भगवान् के पावन-चरित्रों का चिन्तन करते हुए अपने भावुक भक्तों और शिष्यों को भक्ति के उल्लास से उल्लासित करते हुए तीर्थराज प्रयाग को नवनवोल्लास से युक्त करने के लिए अपनी माता और मातृभूमि का पुनः दर्शन करने के लिए सैकड़ों मनोरथ करते हुए परमपाविनी भगवती श्रीगंगा और यमुना के अत्यन्त पवित्र सङ्गम का दर्शन करने आये मानो उन दोनों के बीच में विद्यमान सरस्वती को स्फुट करने के लिए की तरह स्वप्रवचनामृतपूर से पूरित त्रिवेणी को प्रकट करने के लिए ही यहाँ आये हैं । प्रयाग में पदार्पण करने से पहले स्वामीजी ने अपनी जन्मभूमि को बार-बार प्रणाम करके उसके रजकण को अपने मस्तक पर धारण किया और जन्मभूमि के प्रति भक्ति के उद्रेरक को प्रवर्तित किया । स्वामीजी के साथ चलने वाले सभी भक्तों ने भी वैसा ही किया । वहाँ आकर त्रिवेणी संगम पर ठहर गये, समयानुसार तीनों कालों में भगवती गङ्गा और यमुना के अत्यन्त पवित्र संगम दोनों के सम्मिलित धारा में स्नान करके सभी के साथ सन्ध्यावन्दनादि करते थे । सुशीतल अत्यन्त पवित्र गम्भीर जल में स्नान और सुस्वादु जल को पीकर विश्राम करते थे ।

स्वामीजी के आगमन की सूचना विद्युत्संचार की तरह जल्दी ही फैल गयी । घर-घर में स्वामीजी के आगमन का वृत्तान्त फैल गया ।

''सुचिरचिन्तनचिन्तितचेतसौ, निजसुताननपङ्कजषट्पदौ ।''
चिरवियोग वियोजितमानसौ परमहंसमुपासितमुत्थितौ ॥

उस समय वे दोनों वृद्ध दम्पति चिरकाल से जिनके चिन्तन से चिन्तित है चित्त जिनका, अपने पुत्र के मुख कमल के लिए जो भ्रमर है चिरकाल के वियोग से सन्तप्त मन वाले वे दोनों श्रीपुण्यसदन और सुशीला परमहंस शिरोमणि स्वामी जी की उपासना करने हेतु खड़े हुए । अतिवृद्धता के कारण जिनके घुटने आदि सन्धि के बन्धन शिथिल हो गये हैं फिर भी धीरे-धीरे प्रेमोद्रेक से उल्लसित मन वाले अपनी आँखों के ज्योति भूत एक

तारा, सम्पूर्णविरहजन्य व्याधि का नाश करने वाले भवसागर से पार करने वाले जीवन के आधारभूत शीघ्र ही परम आह्लाद करने वाले, अपने कुल का उद्धार करने वाले स्वामीजी का दर्शन के लिए आगे-आगे पादविन्यास करते हुए शारीरिक शक्ति का अभाव होने पर भी किसी तरह से धीरे-धीरे रूकते हुए स्वामीजी में मन लगाये हुए स्वामीजी के विषय में ही वार्तालाप करते हुए त्रिवेणी के तट को देखकर हर्ष-प्रकर्ष के उल्लास से जिनके हृदय में वात्सल्यभाव समुच्छलित हो रहे हैं ऐसे दोनों श्रीसुशीला और पुण्यसदन सोत्साह और उत्कण्ठापूर्वक वहाँ आये जहाँ दोनों की आंखों को आनन्द प्रदान करने वाले, चिरकाल के सन्ताप को हरने वाले दूसरे श्रीकपिलदेव भगवान् की तरह उनके सुपुत्र अनेक भक्त समुदायों के मध्य में विराजमान सूर्य की तरह प्रकाशमान होकर स्थित थे ।

चिरकाल से तृषित चातक की तरह, स्वाति नक्षत्र के बादल के बिन्दु मात्र जल पीने की लालसा वाले, वात्सल्य भावपूर से पूरित अन्तःकरण वाले जो नितान्त भूल गये हैं समस्त लोक व्यवहार को केवल अपने पुत्र के मुख चन्द्र की चन्द्रिका पान के परवश दो चकोर की तरह शीघ्र ही जरा से जीर्ण शरीर को वहन करते हुए अपने सम्मुख आते हुए अपने माता-पिता को दूर से ही देखकर परमहंस धर्म का आचरण करने वाले होते हुए भी स्वामी ने बड़े वेग से उठकर उनके सम्मुख दौड़ते हुए प्रातःकाल से सायंकाल तक गौ के आगमन की प्रतीक्षा करने वाले भूखे बछड़े की तरह आयी हुई अपनी मां सकृत्प्रसूता गौ की तरह धैर्य को छोड़कर दौड़े ।

उत्कण्ठा और अभिलाषा से युक्त दौड़ते हुए अपने पुत्र को आते हुए देखकर दोनों वृद्ध दम्पति माता-पिता श्रीसुशीला और पुण्यसदनजी ने सहसा प्रेमातिरेक से बढ़े हुए दोगुने-चौगुने वेग से प्रवाहित नेत्रों की जलधारा का अविकलवर्षण करते हुए अपने पुत्र के सिर का अभिषेक करते हुए अवरुद्ध कण्ठ केवल झुके हुए श्रीरामानन्दाचार्यजी को हृदय से लगा लिया । श्रीसुशीलाजी स्वामीजी का दर्शन करके भावविभोर हो गयी अपनी माता के अलौकिक प्रेम को देखकर त्यागमूर्ति स्वामी जी का धैर्य छूट गया और मां की ममता का अनुसरण करते हुए स्वामीजी सद्यः द्रवित हो उठे ।

कुछ क्षण के पश्चात् जब सब शान्त हो गये तब स्वामीजी ने उनका कुशलक्षेम पूछकर श्रद्धाभक्ति से ससम्मान उनको अपने निवास स्थल पर

लाकर विशिष्ट आसन पर बैठाकर शास्त्रोक्त विधि से दोनों की सोल्लास पूजन किया संन्यास लेने के बाद भी उस प्रकार के आचार से विरत होने पर भी अपने माता-पिता की पूजा में निरत स्वामीजी को देखकर वहाँ खड़े दर्शकों भावुक जनों के नेत्रों से भी सहसा प्रेमाश्रु छलक पड़े । उस समय मानो साक्षात् करुणा देवी ही प्रकट हो गई हो ।

आश्चर्यपूर्वक सबने देखा अहो- संन्यासी होने के बाद भी अपने माता-पिता के लिए बेटा-बेटा ही रहता है । पूरे विश्व पर विजय पाने पर भी सर्वत्र प्रतिष्ठा पाने पर भी युवा अथवा वृद्ध होने पर भी बेटा अपने माता-पिता के समक्ष बालक ही रहता है । निश्चय ही माता-पिता धन्य है वृद्धावस्था आने पर भी अपने पुत्र के प्रति वैसा ही अनुराग बना रहता है । लोक में देखा जाता है पति पत्नी का प्रेम कदाचित् बदल जाता है परन्तु कहीं भी माता-पिता का अनुराग नहीं बदलता है इस बात को उस समय सबने प्रत्यक्ष दर्शन किया । इस घटना को देखकर और सर्वत्र फैली हुई वार्ता को सुनकर लोगों में परमानन्द का समुद्र उमड़ पड़ा, उसके बाद स्वामीजी की जय जयकार की घोष पूरे गगन में गूँज उठी तदनन्तर सबने स्वामी जी की पूजा की ।

अपने माता-पिता की पूजा से निवृत्त होकर अत्यन्त प्रसन्न स्वामीजी ने सभी भावुकों को सम्बोधित करके उपदेश देना शुरू किया-

इस समय आप सभी भावुकजन अपने-अपने मन में सैकड़ों कल्पना कर रहे होंगे कि जिसने सकल सामान्यजनोचित लोक व्यवहार का परित्याग कर दिया है जो रागद्वेषादि रहित निर्मल चित्त वाले हैं ऐसे संन्यासी भी कैसे इस प्रकार सामान्य मनुष्य की तरह अश्रुओं की धारा सम्पात से मुखमलीन हो गये हैं इति किन्तु ऐसा मत सोचना, क्योंकि मनुष्य जब-जब जिस-जिस शरीर को प्राप्त करके वैसे कर्म को करने के लिए प्रवृत्त होता हुआ धीरे-धीरे अपने शरीर में स्थित सम्पूर्ण दुर्जय शत्रुओं काम क्रोधादि को किसी तरह जीत कर और मन को स्थिर करके त्यागी अथवा संन्यासी होता है यह सब कर्म उनके माता-पिता के भावनानुसार होता है अत एव इनके मन में वैसी प्रवृत्ति जागरित होती है यह आध्यात्मिक सिद्धान्त है । क्योंकि गर्भाधान के अवसर पर माता-पिता की जैसी मानसिक भावना या विचारधारा होती है

वे जैसी-जैसी अपनी कल्पना करते हैं अथवा जिन-जिन महापुरुषों के चरित्रों का स्मरण करके अपने सन्तान की उन्नति की कामना करते हैं ।

उनकी सन्तान वैसी ही होती है तदनुरूप ही आचार-विचार वाली सन्तान उत्पन्न होती है दूसरी बात, यह शरीर तो उन्हीं के द्वारा उत्पन्न किया गया है जब तक इस शरीर की लोक में स्थिति है तब तक माता-पिता से ही परिपोषित, परिपालित, संवर्द्धित, सुशिक्षित इस शरीर से चाहे संन्यास धारण क्यों न किया हो यावज्जीवन अत्यन्त पूज्य उन माता-पिता की सदैव अर्चना, वन्दना, वृद्धावस्था में सेवा करनी ही चाहिए । यही हर आश्रम में पुत्र का धर्म है इससे अन्यथा व्यवहार नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार के कर्तव्य से च्युत होने पर पाप होता है माता-पिता की उपेक्षा करने वाला पातकी होता है वह अपने लक्ष्य से शीघ्र ही च्युत हो जाता है माता-पिता की सद्भावना से ही उनके पुत्रों की समुन्नति अथवा ब्रह्म की अवाप्ति होती है क्योंकि माता-पिता ही साक्षात् ब्रह्म है उनसे विमुख होने पर ब्रह्म प्राप्ति का साधन कभी सफल नहीं होता है । माता-पिता रूप ब्रह्म के अर्चन वन्दन से विमुख होने से । अतः उनके द्वारा उत्पादित शरीर से उनका पूजन समाराधन नितान्त आवश्यक है जब तक उनके द्वारा प्रदत्त शरीर रहे ।

इस प्रकार संसार में माता-पिता की पूजा शास्त्र सम्मत और आवश्यक है ऐसा वर्णन करके पुनः संसार में प्रवृत्त, सर्वत्र फैली हुई मोहमयी भगवान् की माया का वर्णन किया । सम्पूर्ण यह चराचर जगत् भगवान् की क्रीड़ा भूमि है भगवान् ही अपनी इच्छाशक्ति को अनेक प्रकार की क्रीडा विहार के लिए ही मोहमयी इस माया के रूप में प्रवृत्त किया है जिससे अनेक प्रकार का हमारा रमण यथार्थ ही मालूम पड़े ।

वही यह भगवान् की इच्छाशक्ति अथवा माया भगवान् के मनोवृत्ति के अनुसार सम्पूर्ण लोगों को व्यामोहित करती हुई सर्वत्र संसार में विचरण करती है, वही अनेक रूपों में क्रीड़ा करती है अथवा उसके द्वारा स्वयं परमात्मा भी नाना रूप धारण करके स्वेच्छाशक्ति से क्रीड़ा करते हैं शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने से । मनुष्य की इच्छाशक्ति मनुष्य से भिन्न नहीं हो सकती । इसी प्रकार व्यवहार में माया अलग प्रतीत होती है माया माया कहते हुए लोग भ्रमित हो जाते हैं वह माया नहीं है वो कोई दूसरी है । माया तो भगवान् की इच्छा है कहा भी है ।

भगवान् नारायण की इच्छा शक्ति ही माया है जिससे सारा संसार मोहित हो रहा है । वह भी भगवान् की तरह अत्यन्त विचित्र और बहुरूपवाली है वही पति, पत्नी, पुत्र, माता, पिता, बन्धु, बान्धव, देह, गेह, धन, धान्य, पशु, पक्षी, वापी, कूप, तडाग, बगीचा आदि अनेक वनस्पति रूप है पूरे संसार में कोने-कोने में व्याप्त है प्रत्येक पुरुष, हर गांव और हर नगर में फैली हुई है । समस्त जड़ चेतन जगत् मात्र को मोहित करती हुई सभी के मन में निवास बनाकर सदा विहार करती है सर्वत्र मानव के व्यवहारों में हर पल खेलती है उस माया से विमोहित जीव स्वयं को ही कर्ता, धर्ता, भर्ता अथवा संहर्ता मानता हुआ जगत् में व्यवहार करता है अपने से दूसरे को कुछ नहीं समझता है और इस बात को नहीं मानता है कि जगत् में कोई माया है जिसके वश में व्यवहार करता हूँ । वह भगवान् की इच्छाशक्ति रूपा माया एक है फिर भगवान् इच्छा से जीवों को यथारूचि सत्कर्म या असत् कर्म में प्रवृत्त करता है जैसे बालक स्वेच्छा से कृत्रिम पुतलिकादि खेल के साधनों से इच्छानुसार खेलता है पुतलिकादि को इच्छानुरूप नचाता है रखता है गिराता है उसी तरह भगवान् की वैष्णवी माया भी मनुष्यों और पशु पक्षियों के साथ क्रीड़ा करती है भगवान् की प्रेरणा से ही वह वैसा व्यवहार करती है अथवा मनुष्यों को भगवान् के समीप ले जाने में अथवा दूर करने में प्रवृत्त होती है इसीलिए जो वैष्णव हर प्रकार से भगवान् के हैं उनके ऊपर अथवा भगवान् के कृपापात्रों के ऊपर नियमन करने की उसकी गति नहीं है भगवान् स्वयं नहीं चाहते हैं कि हमारे भक्त दूसरे के सम्मुख जायँ तो माया कैसे उनको अन्यथा प्रवृत्त कर सकती है यह माया नाम की भगवान् की इच्छाशक्ति है यह मायावादियों से स्वीकृत मिथ्याज्ञानरूपा अथवा भ्रमरूपा नहीं है यह तो भगवान् की मनोऽभिलाषित क्रियाकलाप का सम्पादन करने वाली ज्ञान-इच्छा क्रियारूपा साक्षात् भगवान् की आत्मशक्ति है । अतः माया शब्द सुनकर भ्रम नहीं करना चाहिए । माया के इस प्रकार के स्वरूप को जो समझता है पहचानता है वह निश्चय ही निर्भय विचरण करता है व्यवहार करता है कर्म स्वयं करता है और कराता है उस भगवदीय वैष्णव को वह माया भी उसके व्यापार से अलग नहीं करती है न घूमाती है ।

किन्तु यह माया मोहिनीस्वरूपा है जो सदाशिव भगवान् को भी मोहित कर दिया फिर मनुष्यों के लिए क्या कहना । स्वयं भगवान् नारायण

शंकरजी से कहते हैं- आपको छोड़कर दूसरा कौन विरक्त पुरुष माया को पार कर सकता है ।

अत: इस माया के बन्धन से बचने का उपाय यह है कि निश्छल भाव से भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करके वहीं रूक जाये वहीं रमण करें वहीं विहार करे । समस्त लौकिक देहगेहादि जन्य कार्य निर्ममत्वभावना से अहन्ता और ममता के चक्र को छोड़कर केवल भगवान् के लिए सर्वथा सर्वभाव से सब कुछ परिकल्पित करते हुए लोक यात्रा करते हुए सर्वत्र व्यवहार करते हुए सबसे मिलते हुए भी तत्कृत कुटुम्बी लोगों के शुभाशुभकर्मों में व्यामोहित न होते हुए अपने मन को ठाकुरजी के चरणों में सुस्थिर करते हुए हिताहित कर्मकलापों में भगवान् की कृपा का अनुभव करता हुआ जल में कमल की तरह संसार में यदि निर्लिप्त रहे तो वह माया के चक्कर में नहीं पड़ सकता क्योंकि जो मेरी शरण में आ जाता है वह माया को तर जाता है ऐसी भगवान् की प्रतिज्ञा होने से ।

किञ्च यह भी नहीं भूलना चाहिए कि बार-बार मानव शरीर नहीं मिलेगा उसमें भी भगवान् का अनुग्रह ही मुख्य है जो हमेशा ठाकुरजी का चिन्तन करते हुए जीवनयापन करता है वह भगवान् का ध्यान करते हुए शरीर का त्याग करके भगवद् धाम को चला जाता है । जो भगवान् की उपासना के लिए पुन: शरीर मिले इस कामना को करते हुए शरीर छोड़ता है वह मनुष्य बनकर फिर जन्म लेता है भगवान् ने कहा है

उक्तञ्च भगवता :-**"यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।**
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव-भावित: ॥" -(गीता)

कि जिस-जिस भाव का स्मरण करके मनुष्य अन्त में शरीर छोड़ता है सदा उसी भाव से भावित चित्तवाला होने से हे अर्जुन ! मरने के बाद उसी को प्राप्त करता है ।

परन्तु यह व्यवस्था केवल अनन्य वैष्णव भक्तों के लिए ही है जो देह गेहादि मोह में पड़े हैं छल छिद्र पाखण्ड परायण हैं उनके लिए नहीं है संसारी मनुष्य को चाहिए कि इस मानव शरीर को चरम शरीर मानकर यावद् बुद्धि बलोदय अपना श्रेय सिद्ध कर ले, क्षणभर के लिए भी अपने चित्त को मिथ्या प्रपञ्च में न जाने दें । क्योंकि अपनी आत्मा को छोड़कर अपना देह भी अपने साथ नही जायेगा जीवात्मा के साथ कोई भी परलोक नहीं जाता है।

''धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे कर्माऽनुगो गच्छति जीव एकः ॥'' इति

कहा है- धन सम्पत्ति भूमि पर, पशु गौशाला में, पत्नी घर के दरवाजे तक बन्धुबान्धव लोग श्मशान घाट तक जाते हैं और शरीर चिता तक रहता है परलोक के रास्ते में जीव के साथ केवल उसका कर्म जाता है ।

अतः हर प्रकार से भगवान् का चिन्तन ही कल्याणकारी है मानव जीवन का परम पुरुषार्थ भगवान् की सेवा, सेवा भी प्रिय से प्रिय पदार्थों से समय और ऋतु के अनुरूप संग्रह करके उनके द्वारा करना जैसे अपने बेटे की सेवा माता-पिता करते हैं समय-समय बालक के मनोरञ्जन के लिए अनेक विशेष उत्सव कराते हैं उसी प्रकार राजोपचार अथवा महाराजोपचारविधि से भगवान् की सेवा करनी चाहिए यही परम धर्म है अतः सभी ओर से माया मोह का परित्यागकरके अहन्ता को छोड़कर भगवान् के चरण की शरण ग्रहण करना ही श्रेय है ।

इस प्रकार अपने पुत्र के मुख से अमृतमय उपदेश सुनकर श्रीसुशीला और पुण्यसदनजी बड़े प्रसन्न हुए, वृद्धावस्था में जैसे उपदेश की आवश्यकता थी वैसा उपदेश सुनकर दोनों समस्त बन्धनों से मुक्त हो गये ।

ततः प्रसन्नमना माता-पिता ने स्वामीजी से कहा- प्रिय वत्स रामानन्द ! मुमुक्षुओं के योग्य उपदेश को सुनकर हमारे सारे संशय नष्ट हो गये । अकारणकरुणावरुणालय भगवान् ने आप जैसे पुत्र को हमें प्रदान कर हमारे समस्त पूर्वजों और अवरजों का उद्धार कर दिया । अब हम लोगों की कोई कामना नहीं है अब हम भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं कि अपने कर्मों के अनुसार हम लोगों का जहाँ कहीं भी जन्म हो वहाँ आप जैसे परम भागवतों का सत्संग प्राप्त हो और फिर प्रार्थना करते हैं-

''ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं, संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययाऽऽत्माऽऽत्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥''

इति (भागवत ६/११/२७)

प्रभो ! मैं मुक्ति नहीं चाहता हूँ मेरे कर्मों के फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़े, इसकी परवाह नहीं, परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनि में जन्मूँ, वहाँ-वहाँ भगवान् के प्यारे

भक्तजनों से मेरी मैत्री बनी रहे, स्वामिन् ! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी माया से देह गेह आदि में आसक्त हो रहे हैं उनके साथ मेरा किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न हो ।

आपके उपदेशामृत को सुनकर हम सब पूर्णकाम हो गये-अब कुछ भी करना बाकी नहीं है इस समय आपके समक्ष ही त्रिवेणी तट पर समाधि लगाकर सीताराम जी के चरणों में जाने की इच्छा हो रही है वत्स ! मैं धन्याति धन्य हो गया जिसके घर में आपके जैसा पुत्र प्रकट हुआ वत्स ! दीर्घायु हो आपका सदा कल्याण हो आप दिग्विजयी हों अपने वचनामृतों की वर्षा से तृप्त करते हुए इसी प्रकार समस्त प्राणियों का उपकार करें । भगवन्नाम की महिमा को प्रकट करते हुए, संसार चक्र में पड़े हुए, नाना प्रकार के क्लेशों से परेशान विनष्ट मनुष्यों का उद्धार करते हुए जगद्गुरु के पद पर आसीन रहें । इस समय कलयुग के प्रभाव के कारण विपरीत भावना से युक्त मन वाले धर्म विमुख विधर्मियों के मोहजाल में जकड़े हुए लोगों को अपने-अपने धर्म मार्ग पर लगाते हुए भरत में पुनः श्रीरामभक्ति की ध्वजा का फहरावें । सबको भगवद् भक्त बनाकर श्रीरामभक्ति परम्परा को बढ़ाइये ।

ऐसा कहकर श्रीपुण्यसदन जी ने त्रिवेणी तट पर समाधि लगाकर श्रीस्वामीजी के समक्ष ही श्रीराम का चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ दिया श्रीसुशीला भी अपने पति का चिन्तन करती हुई अपने पुत्र के मुखकमल का अवलोकन करती हुई पति का अनुगमन कर गयी ।

इस प्रकार उन दोनों की योगियों जैसी गति देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ विद्युत्संचार की तरह यह चर्चा सर्वत्र फैल गयी सभी श्रद्धालु नागरिक योगिस्वरूप उस दम्पति का दर्शन करने आये । स्वामी जी ने अपने हाथों से अपने माता-पिता का अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया ।

उसके बाद सम्पूर्ण उत्तर क्रिया १२ दिनों तक करके महान् समारोह के साथ गोदान, शय्यादान, वैतरणी गोदान आदि करके साधु ब्राह्मणों का विशाल भण्डारा किया ।

सैंतालीसवाँ परिच्छेद

तदनन्तर स्वामीजी ने तीर्थराज प्रयाग को बार-बार प्रणाम करके श्रीसीतारामजी का दर्शन करने के लिए वहाँ से श्रीअयोध्या के लिए प्रस्थान किया । रास्ते में भगवच्चरित्रों का गान करते हुए, नाम ध्वनि करते हुए धीरे-धीरे अयोध्या का दर्शन किया । वहाँ आकर बार-बार अयोध्याजी को प्रणाम करके श्रीसरयू तट पर आकर श्रीसरयूजी को बार-बार प्रणाम करके अत्यन्त पवित्र उसके जल को शिर पर धारण करके तीन बार आचमन करके क्षण भर रूक कर, स्नान-पानादि करके, देवर्षिपितृतर्पणादि करके, सन्ध्यावन्दन, जपहोमादि कर्म सम्पादित करके अपने ठहरने के लिए सरयू तट पर ही कहाँ किस स्थान में व्यवस्था करनी चाहिए ऐसा चिन्तन करते हुए शिष्यों ने स्वामीजी से पूछा तब स्वामीजी ने उनको आज्ञा देते हुए कहा कि जहाँ से भगवान् श्रीराम का दर्शन सुलभ हो वहीं वासार्थ व्यवस्था होनी चाहिए ।

तदर्थञ्च शास्त्रेषूक्तम्-

''जानकीहृदयं रामो रामस्वान्तञ्च जानकी ।
वस्तुतो न पृथग्भावः शक्तिशक्तिमतोः क्वचित् ॥
न हि सर्वात्मना तिष्ठेद्रामः सीतां विना क्वचित् ।
सीताऽपि न क्षणार्द्धं हि विना रामेण तिष्ठति ॥

उसके लिए शास्त्रों में कहा गया है श्रीजानकीजी के हृदय श्रीराम है और श्रीराम के हृदय श्रीजानकीजी है शक्ति शक्तिमान् होने से वस्तुत इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है । सर्वात्मना श्रीराम सीता के बिना कहीं भी रह नहीं सकते और श्रीसीताजी भी आधे क्षण भी श्रीराम के बिना कहीं रह नहीं सकती हैं ।

किञ्च :- **''जानक्या यत्प्रियं किञ्चिद् रामभद्रस्य तत् प्रियम् ।**
रामोऽपि राजते तत्र यत्र सा जनकात्मजा ॥ इति ।

दूसरी बात- श्रीसीताजी को जो प्रिय होता है वही श्रीरामजी को भी प्रिय होगा श्रीरामजी भी वहीं रहते हैं जहाँ सीताजी होती है ।

अत: हम लोगों के सामने जो जानकी घाट दिखायी दे रहा है वहीं हम लोगों को ठहरना चाहिए । वहीं भोजन आवासादि की व्यवस्था की गयी हर प्रकार की दैनिक क्रिया को सम्पन्न करके जिस समय स्वामीजी सुखासन पर बैठे उसी समय उनके आगमन का वृत्तान्त सुनकर सभी सन्त, महान्त, नागरिक, नगर की सम्पूर्ण पुरन्ध्रियाँ, साधु संन्यासी रक्तवस्त्रधारी श्वेतवस्त्रधारी, काषायवस्त्रधारी जटाजूट धारण करने वाले त्यागी तपस्वी सन्त और विद्वान् सब इकट्ठे हुए जो बहुत दिनों से गुप्त रहकर भजन कर रहे थे वे भी स्वामी जी की महिमा कर्णपरम्परा से सुनकर आये, सभी सन्त महात्माओं का एक अपूर्व कुम्भ पर्व सा हो गया लोगों की अपार भीड़ हो गयी । तब स्वामीजी ने सबको प्रणाम करके सबसे पहले संक्षेप से तीर्थ सर्वस्वभूत श्रीअयोध्याजी के विषय में कहना शुरू किया ।

हे परम श्रद्धेय, सम्मान्य, सन्तों, महान्तों, महामना, पूर्णपुरुषोत्तम श्रीराम चरणकमल-चञ्चरीकमना ! आप सब जानते ही हैं कि इस पावन पुरी का क्या माहात्म्य है महात्माओं के समक्ष इसके बारे में कहना तो सूर्य को दीप दिखाने के समान होगा परन्तु और भी बहुत से जिज्ञासु विद्यमान है उनके लिए अपनी कुछ भावना निवेदन करते हैं ।

तथाहि :- **''सैषाऽयोध्या सकलभुवनोत्तंसरत्नावलीका,**
सुश्रीका श्रीजनकतनयाजानिजन्मस्थलीका ।
पापाऽनीकाहननिपुणा पुण्यपाकाऽवनीका
निर्भीकांस्तान् कलयति जनान् ये श्रिता मृत्युभीकाः ॥

यह वही अयोध्या नगरी है जो सम्पूर्ण भुवनों में मुकुटमणि स्वरूप है सुन्दर श्री से युक्त है श्रीजनकतनया के स्वामी की जन्मस्थली है पाप समुदाय के हनन में पूर्ण समर्थ है यह परम पुण्य भूमि है जो मृत्यु से डरे हुए लोग इस अयोध्या का आश्रय लेते हैं उनको यह अयोध्यापुरी निर्भीक बना देती है ।

किञ्च :- **''अत्राऽऽयातो भुवि न पुनरावृत्तिमेति प्रकामं**
रामाऽऽसक्तिं सक्तो दृढतरमनः शान्तिमाप्नोति जीवः ।
सश्रद्धं यः श्रयति, लभते राजसूयक्रतूनां
पुण्यं, वासः कलयति जनो याति बैकुण्ठ (साकेत) धाम ॥

वासो यत्र सुसत्रकोटिफलदस्त्रासोंऽहसां भूयसां
पुण्यानां तनुते विकासमनिशं हासं बिभर्ति श्रियाम् ।
स्वर्गादेः परिहासमेव कुरुते शान्त्या सुखोल्लासने
सेवोपासनया विदेहतनयाजानौ (कान्ते) रतिं वर्द्धते ॥

जो एक बार अयोध्यापुरी में आ गया निश्चय ही फिर पृथिवी पर लौटकर नहीं आता है वह जीव ज्यादातर श्रीराम प्रेम में आसक्त होकर मन को सुस्थिर करके परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है जो श्रद्धापूर्वक इस पुरी का आश्रय लेता है वह राजसूय यज्ञ का फल प्राप्त करता है यदि निवास करता है तो साकेत धाम को प्राप्त होता है ।

जहाँ का निवास करोड़ों यज्ञों के फल को प्रदान करने वाला है अत्यधिक पापराशि को भयभीत करने वाला है पुण्यों को बढ़ाने वाला है श्रीजी की हँसी का सम्पादन करने वाला है शान्तिपूर्वक सुखोल्लासन में स्वर्गादि लोकों को परिहास करने वाला है निवास के पश्चात् यदि सेवा अथवा उपासना करें तो श्रीसीतापति श्रीराम के चरणों में रति को बढ़ाने वाला है ।

यह परम पवित्र धीर गम्भीर जलवाली भगवती मां सरयूजी, जो-

या हि :- **''मन्दं मन्दं वहति सरयू,**
यत्रगम्भीरनीरा तीराऽऽयातत्रिदशललनोल्लासहासप्रकाशा ।
दर्शं दर्शं सुभगसलिलं निर्मलीभूतचेता-
स्त्रेताकालं स्मरति मनुजः स्नाति पुण्योदकेषु ।
यत्र श्रीजनकात्मजा प्रतिदिनं केलिं चिकीर्षुः सखीव्रातैः
सार्द्धमशेषवारिविहितां लीलाविलासाऽवलीम् ।
कुर्वन्ती तटसंश्रिताऽप्यहरहः सम्मानदानादिभिर्ह्यर्चन्ती
समतोषयद् द्विजसतीः सौभाग्य पुत्रोत्सवाः ॥

किञ्च :- **''सिद्धा वृद्धाः समृद्धाः शुचितटकलिताऽऽवासलब्धाऽभिलाषाः**
यत्राऽऽशाव्याप्तकीर्ति प्रथित निजतपःप्राप्तदिव्यप्रकाशाः ।
यज्ञार्थं भूमिशुद्धौ, जनकहलमुखोद्भूतकारुण्यदृष्ट्या
श्रीमद्रामाङ्घ्रिसेवाऽनुपमफलमयीं प्राप्य जाताः प्रसिद्धाः ॥
रम्यं तत्तटमाश्रिता वयमहो सौभाग्यवृद्धोद्भवाः ।
यत्र श्रीजनकात्मजाऽमरवधूवृन्दैः सदोपास्यते ।

नित्यं यच्च रहस्यकेलिरसिकः सीतासनाथः प्रभुः
श्रीरामः श्रयते क्षणं न सरयूप्रेष्ठं तटं मुञ्चति ॥
''वृन्दावने प्रियतमः प्रणयं प्रियायाः
सेवानिकुञ्जमधिगुञ्जितषट्पदालिम् ।
साक्षात् समुल्लसयितुं स्वगुणैकबन्धं
तौर्यन्तिकोल्लसितरासरसं तनोति ॥
साकारमाकार्य मनोजमित्रं फलान्वितं यत् कुरुते रसेशः ।
अतस्तयोः स्नेहसमृद्धयेऽयं सुमर्द्धिकालो वसतिं विधत्ते ॥

यहाँ धीरे-धीरे धीर गम्भीर नीर वाली सरयूजी बह रही है जिनके तट पर आने वाले प्राणियों में देवताओं की ललनाओं के जैसा उल्लास हास का प्रकाश होता है सुन्दर पवित्र जल का दर्शन कर करके मनुष्यों के मन निर्मल हो जाते हैं तब मनुष्य कलियुग में भी त्रेतायुग का अनुभव करता हुआ श्रीसरयू के पवित्र जल में स्नान करता है ।

जहाँ प्रतिदिन श्रीसीताजी अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करने की इच्छा से सम्पूर्ण सरयू जल में अनेक लीला विलास करती हुई सरयू तट के किनारे आती है और प्रतिदिन सौभाग्यपुत्रोत्सव करने वाली ब्राह्मणी सतियों को सम्मान और दानादि के द्वारा पूजन करके सन्तुष्ट करती है ।

श्रीसरयूजी के तट पर ही पवित्र निवास करने की अभिलाषा से आकर बसे वृद्धजन, सिद्ध और समृद्ध हो गये क्योंकि यज्ञ के लिए भूमि की शुद्धि करने हेतु चलाये गए हल से उत्पन्न सीताजी की करुणामयी दृष्टि के कारण तथा श्रीरामचन्द्र के चरणों की सेवा करने से मिले अनुपमफल को प्राप्त कर अनेक सन्त देश में प्रसिद्ध हो गये । जहाँ अमर वधूओं का समुदाय श्रीजानकीजी की सदा उपासना करता है ऐसा श्रीजानकी घाट जो सर्वथा रम्य है वहाँ हम लोग ठहरे हुए हैं अतः हम सब परम सौभाग्यशाली हैं एकान्त में क्रीड़ा करने में रसिक सीताजी को सनाथ करने वाले प्रभु श्रीराम नित्य इस तट पर आते हैं श्रीसरयूजी के प्रेष्ठ एवं श्रेष्ठ इस घाट का कभी त्याग नहीं करते । जिस प्रकार श्रीवृन्दावन में भ्रमरों की गुंजार से गूँजने वाले सेवाकुञ्ज में पहुँचकर अपनी प्रिया के स्वगुणों के कारण प्रकट प्रेम को प्रोल्लसित करने के लिए रसेश भगवान् श्रीकृष्ण नृत्य गीतवाद्य के साथ रास रचाते हैं और जिस प्रकार पुष्पों की वृद्धि को देखकर वसन्त ऋतु जो

ते रसेशः ।
ं विधत्ते ॥
ी है जिनके
उल्लास हास
ुष्यों के मन
करता हुआ

ा करने की
सरयू तट के
ञ्रणी सतियों

अभिलाषा से
नए भूमि की
नयी दृष्टि के
ुपमफल को
वधूओं का
की घाट जो
सौभाग्यशाली
ने वाले प्रभु
इस घाट का
जार से गूँजने
कट प्रेम को
के साथ रास
न्त ऋतु जो

कामदेव का मित्र है वह वसन्त ऋतु प्रिया और प्रियतम की स्नेह समृद्धि को बढ़ाने के लिए स्वयं प्रकट हो जाती हैं ।

रामस्तथैव भगवान् मिथिलेशजायाः प्रीत्यै तनोति सततं प्रणयप्रवाहम् ।
स्वालिङ्ग्य तां तटनिकुञ्जमुपेत्य रम्यां लोकप्रियां सरसभावविभावहेलाम् ॥
श्रीजानकीजानिरहो रहस्यां श्रीजानकीतटमधि प्रसते स्म केलिम् ।
कुञ्जस्य रामशरणाश्रमनामजातं, रामः स्वयं विहरणे शरणीचकार ॥

उसी प्रकार भगवान् श्रीराम मिथिलेश कुमारी श्रीसीताजी की प्रसन्नता के लिए सतत प्रणय प्रवाह का विस्तार करते हैं श्रीजानकी घाट के सरस भाव विभाव हेला रम्या और लोकप्रिया इस कुञ्ज (श्रीरामवल्लभा कुञ्ज) को प्राप्त करके उनका आलिंगन करके उनके लिए अनेक प्रणय प्रवाह का विस्तार करते हैं ।

श्रीजानकी पति भगवान् राम श्रीजानकी घाट में ही इस कुञ्ज में ही रहस्य केलि करते थे अपनी क्रीड़ा में श्रीरामजी ने स्वयं इस कुञ्ज को अपना शरण बनाया था इसलिए इस कुञ्ज का नाम श्रीरामवल्लभा कुञ्ज हुआ ।

किञ्च :-

'रामः' सदा विहरति प्रिय 'वल्लभायाः' 'कुञ्जे' ऽलिपुञ्जशुचिगुञ्जनमञ्जुगाथे ।
'श्रीजानकीतट' गते मुनिसिद्धसाध्यैर्देवैः स्तुते सकललोकनुते प्रशस्ते ॥ इति

श्रीरामजी सदा अपनी प्रियतमा जानकी के भ्रमरों के पवित्र गुञ्जन से जिसकी गाथा मञ्जु हो गयी है ऐसे श्रीजानकी घाट पर स्थित मुनिसिद्ध साध्य और देवताओं से स्तुत्य सकललोक प्रणम्य और प्रशस्त कुञ्ज में विहार करते हैं ।

इस प्रकार भावना समुल्लास में विस्तार से जानकी घाट की महिमा का वर्णन किया है जैसे वृन्दावन में सेवा कुञ्ज की महिमा है वैसे ही अयोध्या में जानकी घाट की महिमा है । पहले समय में जानकी घाट के चारों तरफ श्रीरामजी का प्रमदवन था इस समय कालक्रम से लुप्त हो गया । परन्तु जो परम भगवदीय और श्रीराम के अनन्य भक्त हैं वे ही अपने इष्ट विषयक भावना से भावित अन्तःकरण वाले होते हैं और वे ही उसका साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं दूसरे लोग नहीं । सबकी अपेक्षा इसकी

अधिक महिमा है श्रीरामवल्लभा भगवती सीता के प्रिय होने से भगवान् श्रीराम को भी अतिप्रिय होगा । श्रीजानकी घाट यह नाम अत्यन्त पवित्र है जगज्जननी श्रीजानकीजी के द्वारा अपने श्री अङ्गों से विशेष सेवित होने से यह परम रमणीय भी है कविकूल शिरोमणि श्रीकालिदास ने भी अपने मेघदूत ग्रन्थ में श्रीचित्रकूट पर्वत पर श्रीरामगिरि आश्रम के वर्णन के प्रसङ्ग में कहा है कि आदि शक्ति माता जानकी के स्नान करने से पवित्र एवं पुण्यजनक हो गया है जल जिसका ऐसे मन्दाकिनी के तट पर यक्ष ने निवास किया । उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए । इस अयोध्यापुरी की तो मोक्षदायिनी सप्तपुरियों में गणना की गयी है उनमें सबसे पहले सभी लोग प्रातः स्नान करते समय इसी का नाम उच्चारण करते हैं- यथा -

'अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची, ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायकाः ।। इति ।

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिकपुरी (उज्जैन) और द्वारका ये सात पुरियाँ मोक्ष प्रदान करने वाली हैं इति

इस समय यदि कुछ आप सुनना चाहते हैं तो आज्ञा करें कि इस समय विशेष रूप से मैं क्या निवेदन करूँ ? उसके बाद किसी ने स्वामीजी से प्रार्थना किया कि वैष्णवों के कर्तव्य और अकर्तव्य के ऊपर प्रकाश डालें और विशेष विवेचन करें । तदनुरूप स्वामीजी ने वैष्णवों के कर्तव्यों का निर्देश किया-

(१) सर्वप्रथम गुरु का वरण करना चाहिए । गुरु को सर्वात्मभाव से परम वैष्णव, भगवदीय, विद्वान्, प्रशान्त, कर्मयोगी, वैदिक और स्मार्त कर्मों का ज्ञाता, शास्त्रों का उपदेशक, सदाचारपरायण, पवित्र अन्तःकरण वाला, भगवत्सेवाराधना परायण, सुश्रीक और ब्राह्मणकुलोत्पन्न होना चाहिए । क्योंकि स्कन्ध पुराण में कहा गया है कि गुरु को अवैष्णव नहीं होना चाहिए ।

(२) यह भी वैष्णवों का कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन अपने मति के अनुरूप, अपने अध्ययन के अनुरूप वेदों, वेदान्तों, उपनिषदों, रामायण, गीता, भागवत और अन्य भगवत्सम्बन्धी ग्रन्थों का स्वाध्याय करें । जो लोग अधिक नहीं पढ़े हैं वे भी अपनी-अपनी

मातृ भाषा में लिखे गये आचार्यों की वाणी का पाठ करें । अथवा भगवान् के भक्तों के चरित्रों का पठन करें । अथवा अपने-अपने आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट पुस्तकों, तल्लिखित भगवत्कथाओं को पढ़ें पढ़ावें और सुनें और सुनावें ।

(३) दूसरा यह भी कर्तव्य है कि शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, उपरति और समाधानादि क्रियाकलापों के द्वारा मन के साथ अपनी ज्ञानेन्द्रियों (कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका) और कर्मेन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय, गुदा) को वश में करते हुए सर्वदा भगवान् का स्मरण करे, पवित्र आचरण करते हुए सत्य बोले, मन, कर्म और वचन से किसी का भी अनिष्ट चिन्तन न करें । परद्वेष, परनिन्दा, मिथ्यादम्भ, प्रमाद और अहंकार का त्याग करे । अपने कुवाक्यों से किसी से वाद विवाद न करें न मारे । किसी की भी कोई वस्तु न चुरावे, कभी भी किसी जीव की हिंसा न करें अथवा आखेट न करें । अथवा दुर्व्यसनों को न सोचे न करें । मद्य, मांस, अन्य कोई भी मादक वस्तु जैसे भांग, गांजा, अफीम, सुलफा, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट आदि का पान न करें । जुआ, शराब और हिंसा का आचरण न करें । जुआ में भी अक्षसारिका और तास न खेलें ।

(४) अपने इष्टदेव भगवान् श्रीसीतारामजी का निरन्तर स्मरण करते हुए ही प्रतिपल सर्वत्र उनकी व्यापकता का अनुभव करते हुए सभी देवी देवताओं को सर्वदा भगवद् बुद्धि से ही प्रणाम करे । कहीं भी किसी देवता की अवहेलना न करें श्रद्धा से प्रणाम करें, न द्वेष करें न उनकी निन्दा करें । वैष्णवों में भी चाहे राम भक्त हो, चाहे कृष्ण भक्त हो चाहे जो भी हो सर्वत्र अपने इष्ट देव को ही देखें । भेदबुद्धि और कुतर्क का व्यवहार न करे । क्योंकि भगवान् सर्वरूप है । यदि अन्य देवताओं के साथ अन्यथा व्यवहार करते हैं तो अपने उपास्य देव के साथ ही विरोध होगा । क्योंकि जो राम हैं वही कृष्ण हैं और जो कृष्ण हैं वही राम है, वही वामन है, वही नृसिंह है और अन्य सभी देवता भगवान् के अंगभूत हैं जैसे श्रीमद्भागवत में सूर्य नेत्र है, जल वीर्य हैं, और इन्द्रादि देवता भुजाएँ कहे गये हैं, भगवान् सर्वदेवमय हैं । हे भगवन् । चन्द्रमा

आपका मन और द्युलोक आपका शिर है और शिव के हृदय विष्णु हैं और विष्णु के हृदय शिव हैं इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट ही है कि भगवान् का विग्रह सकल देवमय है अतः भगवद् भावना से ही सबको प्रणाम करे ।

(५) और भी जो कोई विलासकारी जैसे सुगन्धित द्रव्य तेल, इत्र फुलेल आदि सामग्री है उसका अपने उपभोग के लिए प्रयोग न करे सब कुछ पहले भगवान् को समर्पित करे फिर भगवत्प्रसाद को ही अपने उपयोग में ले । इसी प्रकार सभी प्रकार के भोज्य पदार्थ, अनेक पक्वान्न वस्त्राभूषणादि सभी अलंकारादि रत्नादि भी पहले भगवान् को समर्पित करे फिर स्वीकार करे । अधिक क्या- गृहस्थ वैष्णव भी सम्पूर्ण देह, गेह, पुत्र, कलत्र, बन्धु, बान्धवादि को भी भगवान् को समर्पित करके ही स्वीकार करे जैसे हे गोविन्द आपकी वस्तु को आपको ही समर्पित करता हूँ इति । प्रतिदिन के उपयोग की वस्तु जैसे-अन्न, जल, फल, पुष्प, पत्र, ताम्बूल, लौंग, इलायची, जायफल, जावित्री, भोज्य, पेय, लेह्य, चोष्य ये सभी पदार्थ सबसे पहले इष्टदेव को समर्पित करें पश्चात् अपने उपयोग के लिए ग्रहण करें अन्यथा वह चोर दण्ड के योग्य हैं- भगवान् से उत्पन्न पदार्थ समूहों का विना समर्पण के उपयोग करने पर वैष्णव भी बिना आज्ञा के उपयोग करने पर चोर ही है इसलिए असमर्पित वस्तु का सर्वथा त्याग करना चाहिए, कहीं भी ग्रहण नहीं करना चाहिए गृहस्थ वैष्णव तो विवाह काल में पहले भगवान् से प्रार्थना करें कि प्रभो ! आपकी सेवा में विघ्न न आये इसलिए सहायता के लिए आपकी सेविका के रूप में किसी सह धर्मचारिणी को लाता हूँ तदनु विवाह करके पुनः प्रार्थना करें भगवन् ! अपनी सेवा में इसको भी सेवक सह धर्मचारिणी के रूप में स्वीकार करें । यह भी मन्दिर के मार्जनादि, पाकादि सम्पादन, पुष्प, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकारादि के निर्माण में सहायिका होगी इसलिए इसको स्वीकार करें । गृहस्थ व्यापार के सम्पादन हेतु हमें आज्ञा प्रदान करें । यही परम भक्त वैष्णव का कर्तव्य है अतः करना ही चाहिए ।

(६) भगवान्, गुरु और भगवद्भक्त इनमें किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं करना चाहिए इनमें समान भाव रखना चाहिए गुरु को हमेशा भगवद्भावना से ही आदर करना चाहिए, कहीं भी प्रमाद नहीं करना चाहिए अतः ध्यानपूर्वक गुरु और भगवद्भक्तों को सर्वदा साक्षाद् भगवान् मानकर अर्चन वन्दन करना चाहिए कहा गया है- गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती है और देवताओं की आराधना भी ज्ञान के बिना नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा होता है । इसीलिए गुरुदेव भगवत्सेवा की विधि की शिक्षा देते हैं भगवान् के साथ सम्बन्ध कराते हैं तब भगवान् भी गुरु के माध्यम से ही उस मनुष्य को स्वीकार करते हैं । भगवान् के प्रति भक्त की सुप्त भावना को जब गुरुजी जगाते हैं तब वह भगवद् भक्ति में प्रवृत्त होता है इसलिए भगवान् से भी अधिक गुरु का आदर होना चाहिए ।

इसी प्रकार भगवद् भक्त भी अपने सत्सङ्ग द्वारा भगवत्प्रीति को बढ़ाते हैं जो हर प्रकार से भगवान् का भक्त है अनन्य वैष्णव है जो अपना सब कुछ भगवान् को अर्पित करके समस्त लौकिक बन्धनों से मुक्त हो चुका है और जिनकी भगवान् स्वयं दास की तरह सेवा करते हैं जिसके समक्ष भगवान् स्वयं कुछ भी स्वतन्त्र रूप से नहीं करते हैं जैसा कि दुर्वासा से कहते हैं- भागवत में-

हे दुर्वासा जी । मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है मेरे सरल हृदय भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हाथ में कर रखा है भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे ।

ब्रह्मन् ! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ इसीलिए अपने साधु स्वभाव भक्तों को छोड़कर मैं न तो अपने आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी नित्य लक्ष्मी को ।

ये दाराऽऽगार पुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥
अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक, परलोक, सबको छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आ गये हैं उन्हें छोड़ने का संकल्प भी कैसे कर सकता हूँ ।

जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को वश में कर लेती है वैसे ही मेरे साथ अपने हृदय को प्रेम बन्धन से बाँध रखने वाले समदर्शी साधु भक्ति के द्वारा मुझे अपने वश में कर लेते हैं ।

इत्यादि वाक्यों से भगवान् ने स्वयं प्रतिपादित किया है भक्त तो भगवान् से भी अधिक सम्मान्य हैं जैसे लोक में मानवजन अपने आत्मीयजनों, पुत्रकलत्रादि के सम्मान से जैसा आनन्द का अनुभव करते हैं वैसा अपने सम्मान से प्रसन्न नहीं होते हैं उसी प्रकार भगवान् अपनी अपेक्षा भक्तों के लालन और सम्मान से जैसा प्रसन्न होते हैं वैसा अपनी भक्ति से नहीं । यदि कोई भगवद्भक्त भगवान् की पूजा करे और उनके भक्तों महात्माओं से द्वेष करे तो भगवान् उस पर कभी भी प्रसन्न नहीं होते हैं बल्कि दुःखी होते हैं अतः साधु सन्तों की सदा सेवा करे जिससे भगवान् भी अधिक प्रसन्न हो यही वैष्णवों का परम कर्तव्य एवं श्रेयस्कर है ।

दूसरी बात- अपने से श्रेष्ठ वैष्णवों, पूज्यों और गुरुजनों के समक्ष ऊँचे आसन पर नहीं बैठना चाहिए । समुन्नत पावन स्थल में अथवा देवालय में भी गुरुजनों, वेदज्ञ ब्राह्मणों, आचार्यों, सन्तों महात्माओं के समक्ष पैर के ऊपर पैर चढ़ाकर अथवा पैर फैलाकर नहीं बैठना चाहिए क्योंकि यह शिष्टाचार और वैष्णव धर्म के विरुद्ध है ।

(७) सर्वदा यथोपलब्ध सामग्री से आलस्य रहित होकर यथा समय निश्चित समय पर परमश्रद्धा और भक्ति से भगवान् की सदा सेवा उपासना करें । और स्वयं भी सदा शास्त्रोक्त दिशा समयानुसार अपनी दैनिक नित्यकर्म शौच, दन्त धावन स्नानादि प्रक्रिया को सम्पन्न करके मन, कर्म और वाणी से पवित्र होकर एकाग्रचित्त अनन्य भक्तियोगपूर्वक भगवान् का भजन करें । शेष समय भगवान् का स्मरण करते हुए भजन, कीर्तन और नृत्यादि करे ।

(८) यदि एक जगह भगवत्सेवा में मन न लगता हो, तो किसी पवित्र तीर्थ स्थल में निवास करते हुए भगवान् की सेवा में, मन्त्र जप में, भगवत्कथा श्रवण में, कीर्तन, उपदेश सुनने अथवा सुनाने, कथा कहने अथवा सुनने में अपने समय को व्यतीत करे । उस समय सुख-दु:ख में भी व्यथा रहित और अव्यग्रचित्त होकर, हानि लाभ, जय-पराजय में समभावना करते हुए प्राणी मात्र के प्रति दयार्द्रचित्त होकर शत्रु मित्र की भावना को दूर करके सबकी कुशल कामना करते हुए रहे ।

(यथा गीतायाम्-) **''समः शत्रौ च मित्रे तथा मानापमानयोः ।''** इत्यादि

जैसे गीता में शत्रु मित्र मान और अपमान में सम रहे इति ।

(९) भगवत्कथा में बैठने पर कथा के मध्य उठकर नहीं जाना चाहिए और न ही सत्सङ्ग के मध्य में उठे । कथा में इस प्रकार न जाय कि समुपस्थित पूज्य वैष्णवों, ब्राह्मणों विद्वानों का अपमान प्रतीत हो, यदि प्रमादवश जान में अथवा अनजान में अपने पैर से स्पर्श हो जाय तो उसी क्षण उनका चरण स्पर्श करके क्षमा याचना करें और मन में पश्चाताप करें और भविष्य में सावधान रहे । ऐसे दुष्कर्म से वैष्णव की आयु यश और वर्च की हानि होती है ।

(१०) प्रतिदिन भगवान् का प्रसाद, चरणामृत, तुलसीदल ग्रहण करें । अन्नपानादि, वस्त्राभूषणादि को भगवान को समर्पित करके ही ग्रहण करता हुआ निवास करे । भगवान् के समक्ष, गुरुजनों और पूज्यजनों के समक्ष अपना कोई भी कर्म न छिपावे, कपट न करे, झूठ न बोले ।

(११) वैष्णव भक्त यदि गृहस्थ हो तो अधिक वस्त्राभूषण से अपने को न सजावे, जिससे अहङ्कार न बढ़े । सामान्य धोती, कौपीन, उत्तरी वस्त्र और हाथ में लघु वस्त्र धारण करे । यदि विरक्त, त्यागी और संन्यासी हो तो कौपीन और कटिवस्त्र और उत्तरी धारण करें । ऋतु के अनुसार शीतकाल में चादर वस्त्रादि को भी ग्रहण करें । वस्त्र के रंगने की आवश्यकता नहीं है अथवा अपनी रूचि के अनुरूप अथवा गुरु परम्परा के अनुरूप सफेद, काषाय वस्त्र, पीत

वस्त्र धारण करे । अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुरूप मस्तक पर तिलक, गले में कण्ठी, तुलसी माला बाहु में शंख चक्रादि मुद्रा अथवा शीत चन्दनादि की मुद्रा अथवा तप्त मुद्रा सम्प्रदाय के अनुसार धारण करे ।

किञ्च भगवत्सेवा में उपयोगी और आवश्यकता भर ही धन का संग्रह करे । न अधिक लोभ करे और न ही धन के खर्च करने में कंजूसी करे यथा शक्ति न अधिक, न कम व्यय करे । कभी भी अपशब्द न बोले और निन्दकों का कुसङ्ग न करे । जहाँ भगवान् का मन्दिर न हो, और साधु सन्तों का सानिध्य न हो वहाँ न रहे । दूषित अन्न, चाण्डालादि के अन्न को न ग्रहण करें । सदा अपनी और अपने शरीर की सदाचार परायणता में ही रक्षा करे ।

(१२) भगवान् के भक्तों को सदा ही अपने को भगवान् के समक्ष ही विराजमान समझना चाहिए भगवान् में पाषाण बुद्धि अथवा अष्ट धातु आदि की बुद्धि नहीं करना चाहिए और न ही अपने गुरुदेव में मनुष्य बुद्धि करनी चाहिए । जैसे भागवत में- मनुष्यबुद्धि से गुरु की सेवा न करे । और भगवान् के चरणामृत में जल बुद्धि, प्रसाद में अन्नबुद्धि और गुरु से प्राप्त मन्त्र में अक्षर बुद्धि न करे सब में भगवत्स्वरूप का दर्शन करे ।

उक्तमपि- **''मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।**
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥''

कहा भी है- मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी पण्डित, औषधि और गुरु के प्रति जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

(१३) यदि वैष्णव स्वयं शास्त्रज्ञ अथवा विद्वान् न हो अथवा भागवतादि के पठन पाठन में समर्थ न हो तो किसी विद्वान् ब्राह्मण से सब कृत्य सम्पन्न करा ले । और स्वयं भगवान् की सेवा में लगा रहे । सेवा तीन प्रकार की होती है शरीर से, धन से, मन से । शरीर सेवा- भगवान के लिए पुष्पमालादि का निर्माण, शाकादि की सेवा उसको स्वच्छ करना रसोई के योग्य बनाना, पान बीड़ी आदि बनाना,

चन्दन घिसना वस्त्र सीना, आभूषण बनाना, सामग्री इकट्ठा करना, नैवेद्य के लिए अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों का निर्माण करना, ठाकुरजी की साक्षात् सेवा अथवा उनके श्रीअङ्गों में वस्त्राभूषणादि धारण करना इनमें योग्यतानुसार प्रतिदिन सेवा करे । यदि शरीर से सेवा करने में असमर्थ हो तो धन से सेवा करे ठाकुरजी के वस्त्राभूषणादि के लिए यथाशक्ति द्रव्य दान अथवा ठाकुर जी के भण्डार के उपयोगी घी, चीनी, आटा, दूध, दही, मधु आदि खरीदकर सेवा में समर्पित करे । मानसी सेवा तो सबसे श्रेष्ठ और अपूर्व फल प्रदान करने वाली होती है लौकिक चिन्ता छोड़कर मन की वृत्ति को भगवान् में सुस्थिर करके भगवान् की मानसी सेवा करें । इस प्रकार यथाशक्ति ठाकुर की तीनों सेवाओं को करते हुए कालक्षेप करें ।

यदि भगवत्सेवा में असमर्थ हो तो सर्वथा निरभिमान होकर जिस किसी भगवद् धाम अयोध्या, चित्रकूट, वृन्दावन, श्रीरङ्गम्, बदरीनाथ, प्रयाग, ऋषीकेश, हरिद्वार, जगन्नाथपुरी, द्वारका में जहाँ कहीं भगवदाराधन योग्य स्थल में सामान्य कुटी बनाकर भगवच्चिन्तन निरत रहे । यदि इसमें भी असमर्थ है तो किसी भी शुभ शान्त वातावरण में स्थित होकर एकाग्रचित मन को स्थिर करके भगवान् का चिन्तन करे । ये ही वैष्णवों के कर्तव्य है दूसरे भी सुसङ्गोपयोगी देशकालानुरूप संसार और अपने लिए कल्याणकारी होंवे तो उनको करें ऐसा कहकर स्वामीजी ने सभा का विसर्जन कर दिया उसके बाद श्रीअयोध्या धाम की जय हो ऐसा जय घोष हुआ ।

इस प्रकार स्वामीजी कुछ दिन तक अयोध्या में रहकर सभी अयोध्यावासियों से सम्मानित होकर अपने दिव्य उपदेशों से सबको सन्तुष्ट करते हुए आपामरजनों के समुद्धार के लिए आये हुए को श्रीराम नाम मन्त्रोपदेश के द्वारा उपकृत करके, सभी के मन में अपने प्रभाव को सुस्थिर करके भगवान् श्रीराम की प्राकट्य स्थली अयोध्या और श्रीराम के श्रीअङ्गों के संसर्गजन्य सुखोपभोग से प्रशान्त सन्तृप्त और सुशीतल जल युक्त श्रीसरयूजी को प्रणाम करके सभी लोग सरयूजी में आचमन करके अपने आश्रम में आये, अपने विश्राम स्थल को प्राप्त करके श्रीजानकी घाट के रज

से पवित्र देह वाले स्नेह से अभिभूत और मन से ईक्षणीय दिव्य देह वाले श्रीराम चरण कमल से लब्ध लक्ष्मी से युक्त श्रीराम वल्लभा कुञ्ज के सुमनों के भृंग श्रीराम भद्र से आलिङ्गित भूमि पुत्री सीता की सखियों के साथ दिव्य एवं रम्य अपूर्वरस से भावित नित्य लीला को देखकर के देहगेह को भूल जाने वाले हो गये हैं भगवान् के अद्‌भुत धाम और काम को व्यामोहित करने वाली रसमयी, करुणामयी श्रीविग्रह के प्रणय केलि को देखकर सभी कृतार्थ और पूर्ण हो गये।

इस प्रकार भगवत्स्मरण में अनन्य मन वाले, भगवद्‌भावना-भावित अन्तः करण वाले, अविच्छिन्न जन रसानन्द में निमग्न भावुक स्वामी जी और उनके समस्त सहचर वृन्द साधु, सन्त और महान्त गण दिनभर श्रीरामचरण भक्तिरस से आप्यायित होकर मूर्तिमान्, दिव्यदेहधारी देवताओं की तरह अधिकारी होते हुए अकृत्रिम भक्तवात्सल्य सिन्धु, अकारणकरुणा वरुणालय श्रीरामजी के कृपा भाजन हो गये और पूर्व श्लोकों में वर्णित श्रीसीतारामजी की रहस्य लीला का साक्षात्कार किया। यही श्रीजानकी घाट और वहाँ के श्रीरामवल्लभा कुञ्ज का अपूर्व माहात्म्य है भावुकों के लिए।

इस प्रकार घोषणा करके स्वामी जी ने सभी सहचरों को श्रीअयोध्या की परिक्रमा करने और वहाँ के अद्‌भुत चमत्कारयुक्त अनेक दिव्य स्थलों के अवलोकन के लिए आज्ञा दिया। वहाँ के परिचय कराने वाले, पथ प्रदर्शक एवं विभिन्न स्थलों के माहात्म्य का बोध कराने वाले अनेक साधु महात्मा साथ में हो गये। रास्ते में भगवन्नाम संकीर्तन के लिए झांझ, मृदङ्ग, वीणा वंशी आदि बाद्यों की व्यवस्था हो गयी। दूसरे दिन दिनभर नगर, वन, उपवन, निकुञ्ज आदि स्थलों की परिक्रमा करके आनन्दपूर्वक अपने विश्राम स्थल श्रीजानकीघाट पर एकत्रित हो गये। क्रमशः अन्यत्र भी श्री हनुमान घाटादि में भी हर घाट पर रूककर स्थल महिमा से सम्बन्धित प्रवचन करके माहात्म्य को प्रकट करके सभी देवस्थानों को परम श्रद्धा से प्रणाम करके फिर काशी के लिए प्रस्थान किया।

अडतालीसवाँ परिच्छेद

तत्पश्चात् अयोध्या से प्रस्थान करके स्वामी जी पुन: काशी में अपने स्थान श्रीवैष्णवमठ ''श्रीमठ'' में जहाँ उनके पूज्यचरण श्रीराघवानन्दाचार्य जी महाराज विराजमान थे, आकर श्रीगुरुचरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करके परमविनीत भाव से उनके श्रीचरणों में भूमि पर बिना आसन के बैठ गये । पहले से ही जो सम्पूर्ण यात्रा के वृत्तान्त को सुन चुके हैं ऐसे गुरुदेव के पूछने पर स्वामीजी ने नतमस्तक और बद्धाञ्जलि होकर न अधिक और न कम, यथा योग्य उत्तर दिया । उसको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न श्रीराघवानन्दाचार्य जी ने अपने शिष्य के अद्भुत चमत्कृतिमय यात्रा वृत्तान्त के श्रवणानन्तर समुत्पन्न अपूर्व हर्ष प्रकर्षमय उद्गार से अवरूद्ध कण्ठ स्वर से हृदय में अपूर्व आह्लाद के कारण स्खलित वचनों से उनका अभिनन्दन किया । बारम्बार प्रेमाश्रु धाराओं से जटाजूट से समलंकृत स्वामी जी के शिर का अभिषेक किया । तदनन्तर सब प्रकार से कुशल प्रश्न के बाद गुरुदेव श्रीराघवानन्दाचार्य जी ने अपने प्रिय शिष्य स्वामी जी को नित्यकर्म सम्पन्न करने का आदेश दिया । स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी ने भी अनेक शिष्यों के रहने पर भी परमश्रद्धा और भक्ति भावना से अपने गुरुदेव की हर प्रकार की सेवा, पादसंवाहनादि सेवा को अपने हाथों से किया और श्रीमठ के सञ्चालन सम्बन्धी सभी कार्यों को स्वयं सम्भाला । अब मठ सम्बन्धी कार्य समूह को साकल्येन सानन्द परिवहन करते हुए श्रीरामानन्दाचार्यजी को देखकर स्वामी राघवानन्दाचार्य प्रमुदित होते हुए निश्चिन्त हो गये और दिनभर श्रीसीताराम पद कमल पराग पान में मस्त रहते हुए भगवान् की मानसी सेवा में निरत रहते हुए मन्त्र जपादि में ही अपने समय को व्यतीत करते थे मठ सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करते थे, सम्पूर्ण आदान प्रदान आये गये वैष्णवों की सेवा, शंका समाधानादि व्यवस्था भक्तों की व्यवस्था भक्ति के प्रचार-प्रसार की व्यवस्था प्रवचनादि समस्त कार्यों को स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी ने सम्पन्न किया ।

इस प्रकार स्वामी जी के व्यवहार और सेवा को देखकर गुरुदेव श्रीराघवानन्दाचार्य जी महाराज ने स्वामी जी को आचार्यासन पर बैठाकर अपने हस्त कमलों से उनके ललाट पर तिलक कर अपने चादर को स्वामी जी के ऊपर ओढ़ाया अर्थात् चादरविधि से स्वामी जी का महन्थाई किया। उसी दिन से वे ही स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी अपने गुरुजनों के समक्ष उनकी आज्ञा का यथासमय पालन करते हुए समस्त प्रशस्त कार्य का सञ्चालन करते हुए श्रीमठाधीश हो गये। तत्पश्चात् श्रीराघवानन्दाचार्य जी ने अपने महाप्रयाण के अवसर आने पर स्वामी जी को सैकड़ों आशीर्वाद प्रदान करके नित्यसाकेत विहारी की शाश्वत सेवार्थ वहाँ शाश्वत निवासार्थ समाधि लगाकर श्रीसीतारामजी के चरणों में अपने को समर्पित कर दिया।

उसके बाद नित्य साकेतधाम स्थित अपने गुरुदेव की प्रसन्नता के लिए और भूतल पर उनकी ख्याति और प्रशस्ति के प्रचार प्रसार के लिए सभी सम्प्रदाय के महात्माओं, साधु सन्तों, महन्थों विद्वान् ब्राह्मणों काशी वासी समस्त द्विजों का सादर आमन्त्रणपूर्वक सम्मेलन करके विविध पक्वान्नों से उनका सम्मान किया और वस्त्र उपवस्त्र और भूयसी दक्षिणा से उन्हें सन्तुष्ट किया शम्भुभेष नामक विशाल भण्डारे का आयोजन करके उसमें शाल दुशाल, चादर दक्षिणा द्रव्य से समागत सभी का सम्मान करके श्रीमठ की दिव्य भव्य कीर्ति का सम्पूर्ण भारत में विस्तार किया।

तत्पश्चाद् प्रतिदिन श्रीमठ में सैकड़ों साधु वैष्णवों, अभ्यागतों ब्राह्मणों अतिथियों भूखों के लिए भगवत्प्रसाद के रूप में भोजन की व्यवस्था होने लगी। सैकड़ों असहाय, विकलाङ्ग, दीन हीन अन्धे लोग आकर वहीं रहने लगे। देश देशान्तर से आये हुए विद्यार्थी वहीं रहने लगे। श्रीमठ में अनेक क्षेत्र चलने लगे जैसे "अन्नक्षेत्र" यहाँ से कोई भी भूखा भोजन प्राप्त कर सकता है। "वस्त्र क्षेत्र" ठण्ड से पीड़ित कोई भी हो अथवा जिसके पास वस्त्र न हो वह वस्त्र प्राप्त कर सकता है। प्याऊ तो अनवरत चलता रहता है 'विद्याक्षेत्र' तो अत्यन्त रूप से प्रसिद्ध था। जहाँ सैकड़ों सभी प्रान्तों एवं देशों के अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सुह्य, पुण्ड्र, पाञ्चाल, पञ्चाम्बु, गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, राजस्थान, बिहार, मालवा, नयपाल आदि से आये हुए विद्यार्थी निरन्तर विद्याध्ययन में लगे हुये विद्यानुरक्त होकर श्रीमठ में रहते हुए

नियमानुसार सरस्वती देवी की समाराधना करते थे । उस समय इस विद्यालय की भी कीर्ति पूरे काशी में और काशी से बाहर चारों तरफ फैल गयी थी ।

स्वामी रामानन्दाचार्य योगी भी थे उनमें लोगों ने योगाराधनासिद्ध अनेक चमत्कारों को देखा था । कुछ चमत्कारों का उल्लेख किया जा रहा है-

एक बार कनिष्ठ कर्म का प्रवर्तक कनिष्ठ नाम का मायावी आया । वह अपनी माया से लोगों को भयभीत करता हुआ श्रीमठ के समीप आकर स्वामी जी के ऊपर अपनी मान्त्रिक शक्ति का प्रयोग किया उस समय आश्रमस्थ सभी छात्र साधु सन्त शान्तिपूर्वक बैठकर विविध विषयिणी शास्त्र चर्चा करते हुए ग्रन्थों को पढ़ते पढ़ाते हुए सुन्दर सत्सङ्ग कर रहे थे उस समय उस मायावी ने महान् झञ्झावात की तरह आँधी प्रकट कर दिया सबकी आँखें धूल धूसरित हो गयी जब तक वायु के प्रकोप को सहते हुए रक्षा के उपाय करें तब तक आकाश में भीषण बिजली चमकी, पत्थर बरसने लगा अचानक रुधिर, माँस, अस्थि की वर्षा होने लगी जैसे राक्षसों के उत्पात को देखकर त्रेता युगीय दण्डकारण्यवासी मुनि महात्माओं ने श्रीराम का स्मरण किया उसी प्रकार श्रीमठ में रहने वाले छात्रों, महात्माओं ने भगवान् राम का स्मरण करते हुए भय से पीड़ित होकर कोई उपाय सोचें कि उसी समय आश्रम के चारों तरफ प्रलयाग्नि प्रकट हो गयी, उस समय सभी लोग भय से व्याकुल और महामाया से ग्रस्त होने चारों तरफ दौड़ते हुए चिल्लाने लगे ।

उस समय अपने समस्त परिकरों को भय से उद्विग्न देखकर समाधि में स्थित स्वामीजी ने अचानक नेत्र खोलकर समाधि स्थल से बाहर आकर चारों तरफ महा उपप्लव देखकर अपनी योगदृष्टि का निक्षेप करके क्षण भर में ही सम्पूर्ण माया को पराभूत करके शान्ति की स्थापना कर दिया और फिर वह दुर्वृत्त अपनी प्रवृत्ति के अनुसार फिर ऐसा ही करेगा ऐसा सोचकर ''शठे शाठ्यं समाचरेत्'' इस न्याय से स्वामी जी ने एक सुलभ उदरशूलकारक अभिचार का प्रयोग किया । तब वह दुष्ट पेट की पीड़ा से प्राणान्त कष्ट का अनुभव करता हुआ स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा ।

त्राहि त्राहि महायोगिन् अपराधं क्षमस्व मे ।

हे महायोगिन् रक्षा करो, मेरे अपराध को क्षमा करो, मैं आपके प्रभाव को नहीं जानता था अतः माया का प्रयोग किया ।।१।। मेरा अभिचार प्रयोग मुझे ही बहुत कष्ट दे रहा है फिर मैं ऐसा नहीं करूँगा जिससे आश्रमवासियों को कष्ट हो ।।२।। हे महायोगिन् मैं आपकी शरण हूँ रक्षा करो रक्षा करो, मेरे प्राण अब निकलने वाले ही हैं इसलिए अब विलम्ब मत करें ।।३।। इस प्रकार करुणा के लिए चिल्लाते हुए उस मूर्ख को देखकर अकारण करुणा वरुणालय स्वामी जी ने पराकृपा से युक्त होकर उस दुष्ट का पर्याप्त दण्ड देखकर तत्काल शान्ति की इच्छा करते हुए बाहर आकर बार-बार अपने चरणों में उसे झुके हुए, स्तुति करते हुए अपने अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए देखकर कृपा करके अपने हाथ से एक बार उसका स्पर्श किया ।।४-५-६।। भुक्त भोगी, व्याधि मुक्त उस दुष्ट को दुष्टकर्म से हटाकर अपनी शरण में आये को अपना शिष्य बना लिया ।।७।। उसी दिन से वह दुष्ट शिष्ट और सबका सेवक बन गया सर्वदा अपनी विद्या को परोपकार में लगाते हुए फिर कभी वैसा उत्पात नहीं किया ।।८।।

एक बार महासेन नामक दिग्विजयी विद्वान् विद्या के अभिमान से मत्त और धृष्ट काशी आया ।।१।। स्वामी जी के वैदुष्य की सुन्दर कीर्ति दूर से ही सुनकर शास्त्रार्थ के लिए आया ।।२।। शास्त्रार्थ की लिप्सा से श्रीमठ के समीप आकर अहंकार के वशीभूत होकर बोला- कोई शास्त्रार्थ करने वाला विद्वान् है ? ।।३।। मैं रामानन्द जी के साथ शास्त्रार्थ करने आया हूँ मैं उनका वैदुष्य और शास्त्रगामिनी प्रतिभा को देखूँगा ।।४।। शास्त्रार्थ में यदि मैं हार गया तो उनका शिष्य बन जाऊँगा । यदि मैं विजयी हुआ तो उनको अपना शिष्य बनाऊँगा ।।५।। शैव सम्प्रदाय के अनुसार उनको शिव मन्त्र से दीक्षित करूँगा अन्यथा मैं राममन्त्र से दीक्षित होकर श्रीसम्प्रदाय में मिल जाऊँगा ।।६।। उस समय श्रीपीपाजी श्री अनन्तानन्द के समक्ष श्रीमठ के आगे प्राङ्गण में चौकी पर बैठकर शास्त्र चर्चा करते हुए आनन्द भाष्य के प्रश्नों, संशयों को पूछ रहे थे सबने मुस्कराते हुए महासेन की गर्वोक्ति को सुना ।।७।। श्री अनन्तानन्द जी तो शान्त रहे कुछ नहीं बोले किन्तु पीपाजी क्रोध से थर्राते हुए उसको फटकारते हुए बोले ।।९।। क्या विद्वान् घमण्ड की बात करते हैं ? यदि शास्त्रार्थ करने की इच्छा है तो आ मेरे सामने ।।१०।। हे गर्विष्ठ ! जल्दी बोल, अपनी विद्या और बुद्धि का बुद्धि का प्रदर्शन कर, क्या प्रश्न है? कैसा

प्रश्न है ? कौन सी शङ्का तुम्हें पीड़ा पहुँचा रही है ? ।।११।। श्रीपीपाजी की गर्व विनाशकारी एवं निर्भीक वाणी सुनकर उसी क्षण महासेन की वाणी कीलित हो गयी ।।१२।। अति गर्वीष्ठ शास्त्रार्थ कुशल विद्वान् महासेन सद्यः मन्त्र मुग्ध हो गया और परम विस्मित हो गया ।।१३।। अपूर्व प्रेष्ठ श्रेष्ठ मन्त्र शक्ति और तपोबल को समझकर अपनी जिह्वा को कीलित देखकर क्रुद्ध सर्प की तरह बड़ा दुखित हुआ ।।१४।। मन्त्र को जानने वाला तत्वज्ञ मन्त्र शक्ति से लज्जित नहीं हुआ, सब होता है इसमें आश्चर्य और कुछ भी वैदुष्य नहीं है ।।१५।। मुझे घमण्ड की बात नहीं करनी चाहिए, यह तो महात्माओं का प्रभाव है मैं स्वामीजी का दर्शन करना चाहता हूँ ।।१६।। उसके बाद विद्वान महासेन ने बारम्बार क्षमा याचना माँगा और प्रार्थना किया कि परम दयालु आप सब अपने गुरुजी के दर्शन कराने की कृपा करें ।।१७-१८।। मानवों में श्रेष्ठ महात्मागण अवश्य श्रद्धेय हैं आज मैं उनके तप का प्रभाव जान गया आप सब श्रीगुरुजी के पास ले चलें । श्रीपीपाजी के सहित अनन्तानन्दादि सभी साधु उस विद्वान् को स्वामी जी के समक्ष ले गये ।।१९।। विद्वान् श्रीमान् महासेन ने वैदुष्य गर्भित और विनय से ओतप्रोत वाणी में आचार्य चरण के वैभवों का स्तवन करते हुए बोला ।।२०।। भावज्ञ स्वामी जी सुनकर विद्वान् की प्रशंसा करने लगे और विद्या और विनय से युक्त विद्वान् को सन्तुष्ट किया ।।२१।। और स्वामी जी ने उन्हें घर जाने का आदेश दिया और कहा- म्लेच्छाचार से भारतीय सद्विद्या की रक्षा करो, म्लेच्छाचार से विलुप्त होती हुई भारतीय संस्कृति का अपने वैदुष्य से सर्वत्र प्रचार-प्रसार करो । वैदिकी धर्म मर्यादा, यज्ञयागादि पद्धति और सदाचार की प्रवृत्ति की घर-घर में स्थापना करो ।।२२-२३-२४।। इस प्रकार उपदेश देकर बाह्मण श्रेष्ठ प्राज्ञ महासेन की वस्त्र, आभूषण ओर द्रव्यदक्षिणा से पूजा किया ।।२५।। विद्वान् महासेन स्वामी जी को महान् प्रभावशाली, परमसुशील, विद्वानों के आदर करने में अग्रगण्य तपस्वी और महाप्राज्ञ जानकर चरणों में गिरकर बारम्बार प्रणाम कर स्वामी जी से सैकड़ों आशीर्वाद, क्षमा, क्षेम, बल और तेज की याचना करता हुआ स्वामीजी को अपना गुरुदेव मानकर निःशङ्क चरणों में गिरकर स्नेहभाव से पूजित होकर स्वामी जी से आज्ञा पाकर अपने घर गया ।।२६-२७-२८।। स्वामीजी के उपदेश से लब्ध दिव्य दृष्टि वह महासेन रास्ते में अपनी मिथ्या गर्वोक्ति पर विचार प्रकट करते हुए बारम्बार अपने को

धिक्कारते हुए घर आकर प्रसन्न होकर अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए बार-बार प्रयत्न किया और स्वामीजी की कृपा से घर-घर और जन-जन में अपने वैदिक सनातन शुभ धर्म का प्रवर्तन किया और श्रद्धा भक्तिपूर्वक श्रीरामभक्ति में निरत हो गया ।।२९-३०-३१।।

तत्पश्चात् एक बार कोई मद्रास प्रान्त का पण्डित आया वह साक्षाद् विद्या महासागर तन्त्रवेत्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ 'अपार' नाम का विद्वान् स्वामीजी का नाम सुनकर काशी आया । उसकी विद्या नाम की एक कन्या थी जो अपने तारुण्य और लावण्य से देवताओं की स्त्रियों को भी जीत लिया था, अभूतपूर्व प्रतिभावाली एवं तन्त्ररूपी समुद्र की पारङ्गता थी, सौन्दर्य गर्व से उद्धत एवं चञ्चल नेत्र वाली थी, स्वरूप में सिन्धु कन्या लक्ष्मी जैसी थी अपने मनोविनोद के लिए घूमती हुई स्वामी जी के आश्रम परआयी ।।१-२-३।। विद्यार्थियों और पण्डित प्रवरों के मध्य बृहस्पति की तरह बैठ कर स्वामी जी अध्यापन करा रहे थे प्रश्नोत्तर के माध्यम से ब्रह्मचिन्तन में निमग्न थे ।।४।। उस विद्या की काम भाव से दूषित दृष्टि किसी नवयुवक पर पड़ी, उससे वह विमोहित हो गयी कामातुरा होकर उसी में अपना मन लगाकर अशान्त हो इतस्ततः भटकने लगी हर क्षण मनोहर नूतन शरीर कामदेव तुल्य उस पुरुष का चिन्तन करती हुई उसकी प्राप्ति के लिए व्याकुल चित्त इधर-उधर घूमने लगी । एक बार दैववश वह युवा पुरुष उसके सामने आ गया तब विद्या ने उससे काम-क्रीड़ा के लिए प्रार्थना किया । तब वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी इसके पहले ऐसी बात नहीं सुनी थी, प्रिया सहवास जन्य सुख को नहीं जानता था, नियम व्रतों के पालन में अचञ्चल चित्तवाला एवं महाव्रती था ।।५-६-७-८।। उस कन्या की वैसी वाणी सुनकर क्रुद्ध हो गया और कहा क्यों रे तुझे लज्जा नहीं लगती है ऐसा कहने में । यदि तू वेश्या है तो तेरे जैसे अनेक कामी पुरुष यहाँ विद्यमान है तुम उनके पास क्यों नहीं जा रही हो, क्या उन लोगों से तेरा मन नहीं भरा, जो मेरे वर्ण और आश्रम की मर्यादा और मेरे व्रत को खण्डित करने यहाँ आयी हो । मैं वर्णाश्रम धर्म और व्रत का पालन करने वाला हूँ अपने आश्रम धर्म, कर्म और सदाचार के प्रवाहों से ही लोक में मेरी प्रसिद्धि है फिर मैं नरक कुण्ड में क्यों गिरूँ ? अपने मुख में लगाम लगाओ, इस प्रकार प्रलाप मत करो ।।९-१०-११।। मैं कुकर्म मार्ग में अपना पद नहीं रखूँगा, मुझ पर दया करो, धर्म विरूद्ध कार्य करने में मुझे क्षमा

करो, मेरी यह बुद्धि उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होगी । यह आश्रम भारतीय संस्कृति का आदर्श भूत है सर्वोत्कृष्ट आश्रम है और सर्वमान्य है यहीं का छात्र होकर यहीं रहकर इस आश्रम को मैं स्वयं कलङ्कपङ्क में निमग्न क्यों करूँ । देवि ! अपनी अभिलाषा की पूर्णता के लिए दूसरे किसी कामी पुरुष को देखो, मुझ स्थित प्रज्ञ निष्कामचित्त को अपने निश्चित लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकती हो । १२-१३-१४। उस प्रकार गर्व युक्त अत्यन्त अपमानजनक और असह्य वाणी सुनकर वह कन्या क्रोध से अन्धी हो गयी धैर्य छोड़कर गरजने लगी और अपने तन्त्र विद्या से उसे वश में कर लिया वह बालक मुख से रुधिर फेंकने लगा और मूर्च्छित हो गया, डाकिनि मन्त्र से मुग्ध होकर चेतना शून्य होकर भूमि पर गिर पड़ा और मृत्यु की इच्छावान् हो गया, क्षण भर में ही यह समाचार चारों तरफ फैल गया आश्रम में सभी लोग व्याकुल हो गये तब्र स्वामी जी ने अपनी मन्त्रपूता दृष्टि उस बालक पर डाली, स्वामी जी के तप प्रभाव से वह वटुक तत्काल स्वस्थ हो गया मानो सोकर जगा हो, उस कन्याकी वह तान्त्रिकीं सिद्धि भी क्षणभर में नष्ट हो गयी ।१५-१६-१७-१८। जिसकी समस्त विद्या नष्ट हो गयी है वह हतप्रभा विद्या कन्या अपने पिता के पास गयी, और उच्च स्वर से रोने लगी, और विह्वल होकर रोती हुई अपने अपमान का सब वृत्तान्त सुनाया उसका पिता अपार ब्राह्मण क्रोध से लाल होकर अपने तन्त्र मन्त्र की सिद्धि को दिखाने के लिए प्रवृत्त हुआ श्रीमठ के समीप आकर अभिचारों का प्रयोग किया, श्रीमठ की रक्षा के लिए श्रीस्वामी जी ने पहले से श्रीवैष्णवास्त्र का प्रयोग कर दिया था उस वैष्णवास्त्र ने तत्काल उस दुर्जन की कृत्या को जला दिया फिर पण्डित के पेट में दर्द होने लगा । अपार पण्डित अपनी विद्या को नष्ट हुआ देखकर बड़ा दुःखी हुआ अपने पेट में भयंकर पीड़ा एवं अपने शरीर को कीलित देखकर वह चिल्लाने लगा हे प्रभो ! रक्षा करो मुझ दुर्जन की रक्षा करो, हे मात: यह क्या ? मेरे द्वारा प्रयोग किया गया अभिचार मुझे ही क्यों मार रहा है । उस पण्डित की इष्ट देवी प्रकट होकर उसे सान्त्वना देते हुए कहा- हे वत्स ! तुमने यह बहुत बड़ा दुष्कर्म किया है ? श्रीमठ के ऊपर अभिचार का प्रयोग किया ? तस्माद् हे पुत्र ! अब तुम क्षमा और दया के सागर पूज्य स्वामी जी के चरणों को पकड़कर क्षमा याचना करो शरणागत होकर अपने पाप की शान्ति के लिए स्वामी जी से क्षमा याचना करो और तत्काल सुख

शान्ति प्राप्त करो, वे स्वामी शान्ति काम, सभी के प्रिय करने वाले है वहाँ तो निरन्तर निर्वैरता प्रवाहित होती रहती है तुमको अपने समीप आया हुआ देखकर तुमको हृदय से लगातार तुम्हारे शोक को दूर कर देंगे । इतना कहकर इष्ट देवी अन्तर्हित हो गयी, अपने इष्ट देवी की आज्ञा पाकर वह अपार पण्डित श्रीमठ में प्रवेश करके श्रीस्वामीजी के चरण धूलि में लेटने लगा, शरणागत होकर विनम्र भाव से स्तुति करने लगा उसकी कन्या विदुषी विद्या गर्व छोड़कर स्वामीजी की शिष्या बन गयी और स्वामीजी की आज्ञानुसार सुन्दर कार्य करने लगी जिससे स्त्रियों के समाज में प्रमुख हो गयी, उसके विचित्र प्रतिभा का प्रकाश लालिमा शून्य सूर्य किरणों की क्रान्ति की तरह तत्काल सर्वत्र फैल गया भूतल पर साक्षात् श्रीविद्या के रूप में प्रसिद्ध हो गयी । १९-२९ तक । अपार पण्डित भी स्वामी जी से वैष्णवी दीक्षा लेकर पण्डित श्रेष्ठ हो गया शास्त्रों में दीर्घदर्शिता की आभा से युक्त सुन्दर शिक्षण कुशल एवं धर्म पद्यों का उपदेश करते हुए मठ में रहने लगे । और दशों दिशों और सभी कोनों में चारों तरफ प्रसृत इस वृत्तान्त को प्रकट किया कि श्रीवैष्णवास्त्र समस्त माया का विनाश करने वाला है उग्र वीर्य वाला और दुर्जय है । उसके बाद श्रीमठ के प्रति किसी भी तान्त्रिक ने कोई दुश्चेष्टा नहीं की, श्रीस्वामीजी की तपस्या से समुत्पन्न कीर्तिलता पुष्पों से वह काशीपुरी अलङ्कृत हो गयी । ३०-३२।

तत्पश्चात् एक बार कलित और ललित गुण गणों से विशिष्ट चारों तरफ फैलती हुई कीर्तिवल्लरी को अनेक प्रकार के विचित्र वर्ण वाले पुष्प पुञ्जों के परिमल से सुरभित दिशाओं वाली, समस्त भारतीय पृथ्वी के सौभाग्य सिन्दुर स्वरूप तप के प्रताप से विशिष्ट तान्त्रिकों के प्रभाव को पराभूत करने वाली गौरव गाथा को सुनकर मद्रास का निवासी शास्त्रार्थ केशरी अपने वैदुष्य के अभिमान से मदोन्मत्त कोई विद्वान् श्रीस्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए श्रीमठ में आया । उस समय स्वामी जी अपने शिष्यों को "उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्" (२-३-१९) इस ब्रह्मसूत्र के ऊपर अपने आनन्द भाष्य को पढ़ा रहे थे आकर वह पाठन सुनने की इच्छा से प्रशान्त भाव से वहीं एक तरफ बैठकर पाठनशैली, विषय प्रतिपादन, छात्रों में भी प्रतिभा का प्राचुर्य, स्वामी जी को समझाने की शैली ये सब अलौकिक देख सुनकर उसके चित्त में शास्त्रीय आलाप का स्फुरण हुआ । और वह

स्वामीजी के समीप में जाकर शतशः प्रणति निवेदनपूर्वक दाक्षिणात्य शैली में गोत्र, प्रवर का नाम उच्चारण करते हुए अपना परिचय दिया ।

हे भगवन् ! ऋग्वेद के अन्तर्गत आश्वलायन सूत्र के अनुरूप शाकल्य शाखाध्यायी कौण्डिन्यसगोत्री मद्रास निवासी मैं सत्यमूर्ति आपकी भुवनवितता दिव्या भव्या प्रशस्ति को सुनकर शास्त्रार्थ करने की इच्छा से यहाँ उपस्थित हुआ हूँ । आज मैं अपने परम सौभाग्य के उदय का अनुभव कर रहा हूँ कि यहाँ अपने नेत्रों से आप जैसे महापुरुष का दर्शन प्राप्त हुआ आज नेत्र सफल हो गये ।

यह सुनकर स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी ने तत्काल उठकर पण्डितजी को अपनी भुजाओं में भरकर उत्कण्ठापूर्वक सानन्द विशेष रूप से अपने हृदय से लगाकर आलिंगन करके उनका अभिनन्दन किया । और उनके लिए शीघ्र ही मठ के एक देश में निर्मित अतिथिशाला में उनके निवास भोजन पान, शौच स्नान सन्ध्यावन्दनादि की हर प्रकार की व्यवस्था कर दिया इस समय आप विश्राम करें दूसरे दिन पण्डितों की सभा में आपकी अभिलाषापूर्ण हो जायेगी ऐसा कहा ।

तदनन्तर शास्त्रार्थ की व्यवस्था हुई काशी के विशिष्ट विद्वान् बुलाये गये, शास्त्रार्थ हेतु विशाल सभा सुसज्जित हो गयी, सभी विद्वद्वरिष्ठ यथा स्थान पर बैठ गये । मध्य में मञ्जुल सिंहासन पर बृहस्पति की तरह स्वामी जी विराजमान हो गये और स्वामी जी के सम्मुख ही विशिष्ट पीठ पर पण्डित सत्यमूर्ति जी विराजमान हो गये स्वामी जी ने पण्डित जी को सम्बोधित करके कहा भो भो विद्वद्वरेण्य ! कौन कौन और कैसा आपका पूर्व पक्ष है ? ठीक ठीक कहिये ।

सत्यमूर्ति- 'परम सम्मानीय महानुभाव ! कल 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' इस सूत्र के भाष्य का अध्यापन करते समय आपने पढ़ाया था कि जीव ज्ञातृत्व धर्म वाला है, इति प्रश्न है कि यदि जीव ज्ञातृत्व धर्मवाला है तो उसका ज्ञार्तृत्व सर्वत्र और सर्वदा क्यों नहीं देखा जाता है ? जीव के नित्य होने से "यह आत्मा, नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है" इस भगवद्वाक्य से जीव का सर्वगतत्व स्पष्ट है तब जैसे सर्वगत पदार्थ सर्वत्र

उपलब्ध होता है उसी प्रकार उसका ज्ञार्तृत्व धर्म भी सर्वत्र उपलब्ध होना चाहिए किन्तु नहीं होता है क्या कारण है ?

श्रीस्वामीजी- मुस्कुराते हुए भगवन् ठीक है परन्तु जीव विभु नहीं है और विभु पदार्थ ही सर्वत्र उपलब्ध होता है अणु पदार्थ नहीं, 'जीव: सर्वगतस्थ: अणुश्च' ऐसा पाठ मानकर आपके द्वारा कथित प्रमाण से ही जीव का अणुत्व सिद्ध होता है और अणु पदार्थ के अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष न होने के कारण सर्वत्र उपलब्धि नहीं होती है जब जीव की सर्वत्र उपलब्धि नहीं होती है तब उसके धर्म की क्या कथा । विभु न होने से । दूसरी बात यदि जीव को विभु मानते हैं तो विभु होने से जीव सर्वत्र व्यापक होगा फिर उसका उत्क्रमण, गमन और आगमन आदि कैसे होगा ? जो वस्तु सर्वत्र विद्यमान है उससे रिक्त स्थान कोई नहीं होगा फिर उत्क्रान्ति आदि कैसे सम्भव होगा तस्माद् इस सूत्र से जीव के विभुत्व का खण्डन किया गया है ।

सत्यमूर्ति- भगवन् ! किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीव के विभुत्व का वर्णन 'स चानन्त्याय कल्पते' इस वाक्य से नित्य: सर्वगत:' इस गीता वाक्य से वर्णन मिलता है इन विशेषणों से जीव का नित्यत्व और सर्वगतत्व सिद्ध होता है और सर्वगत तो विभु ही होता है तस्माद् जीव का विभुत्व सिद्ध हो गया ।

श्रीस्वामीजी- आपने ठीक कहा परन्तु उसके तात्पर्य को समझने में भ्रम हो गया है वहाँ तात्पर्य है कि जीव का धर्मभूत ज्ञान विभु है उसके विभु होने से जीव में भी विभुत्व का व्यवहार होता है जैसे "देवदत्तोऽयं" यह व्यवहार देवदत्त के शरीर को लेकर है न कि जीवात्मा देवदत्त को लेकर । और देह के सम्बन्ध से ही शरीरान्तर्गत जीव देवदत्त नामवाला होता है स्वतन्त्र जीव नहीं, क्योंकि जीव जिस नामधारी शरीर में प्रविष्ट होता है उसी नाम से व्यवहार किया जाता है वस्तुत: जीव देवदत्त नहीं है ।

यदि जीव को ही विभुं स्वीकार करें तो "यह जीवात्मा नेत्र से, मस्तक से अथवा शरीर के किसी अन्य देश से निष्क्रमण करता है" इस वृहदारण्यकोपनिषद् के वाक्य की क्या गति होगी ? नेत्रों से, शिरोभाग से, अथवा किसी दूसरे छिद्र से जीव का निष्क्रमण सर्वत्र विद्यमान विभु जीव का

कैसे सम्भव होगा ? कहीं भी उससे रिक्त स्थान है ही नहीं । कहाँ वह जाये ऐसी दशा में श्रुति का क्या तात्पर्य होगा ?

और भी- "जो कोई भी अग्नि होत्रादि सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वाले लोग हैं वे सबके सब जब इस लोक से प्रयाण करते हैं तो क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन आदि के अभिमानी देवताओं के अधिकार में होते हुए अन्ततोगत्वा चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गलोक में ही जाते हैं" कौषीत ब्रा. १.२) एवं वृहदारण्यकोपनिषद् में जीव के गमन की बात आती है जैसे उस लोक से फिर इस कर्म लोक में आता है इत्यादि प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जीव विभु नहीं है । गमनागमनशाली होने से । सर्वत्र विद्यमान व्यापक का जाना आना सम्भव न होने से ।

सत्यमूर्ति- भगवन् ! यदि वृहदारण्यक की उस श्रुति से जीव का अणुत्व सिद्ध होता है तो "वह आत्मा अज और महान् है" इस श्रुति से जीव का विभुत्व सिद्ध होता है ऐसी दशा में आप जीव को अणु मानेंगे कि विभु?

स्वामीजी- भगवन् ! आप भ्रमित न हों प्रकरण के अनुसार तात्पर्य का अवधारण करना चाहिए आत्मा शब्द जीव और परमात्मा दोनों का वाचक है कहीं जीव का कहीं परमात्मा का इसलिए 'स वा एष महानजः आत्मा' इस श्रुति से परमात्मा के विभुत्व का प्रतिपादन समझना चाहिए ।

यद्यपि वृहदारण्यक में थोड़ा विज्ञानमय प्राणेषु इस श्रुति से जीव का प्रकरण आरम्भ हुआ है तथापि "यस्यानुवित्तः प्रतिबद्ध आत्मा" इस श्रुति से तो परमात्मा का ही निरूपण किया गया है इसलिए स वा एष महानज आत्मा यह श्रुति परमात्मा की बोधिका है न कि जीव की । दूसरी बात- जिसमें पाँच भेदों वाला प्राण भलीभाँति प्रविष्ट है उसी शरीर में रहने वाला जीवात्मा सूक्ष्म रूप से रहता है और मन से जानने योग्य है (मुण्डोपनिषद् ३.१.९) आरे की नोंक के जैसे सूक्ष्म आकार वाला है ऐसा परमात्मा से भिन्न जीवात्मा भी ज्ञानियों के द्वारा देखा गया है एवं-बाल की नोंक के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में कल्पना किये जाने पर जो एक भाग होगा उसी के बराबर का जीव का स्वरूप समझना चाहिए (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५-८-९) इत्यादि श्रुतियों से जीव का अणुत्व ही सिद्ध होता है न विभुत्व । यहाँ आराग्रशब्द का तात्पर्य जब गेहूँ आदि का जो बाल उसके अग्रभाग में जो धान्यमञ्जरी उसके

जो रोम उसके अग्रभाग का दश हजार भाग करें तो दश हजार वाँ भाग जीव स्वरूप है ।

सत्यमूर्ति- ठीक है जीव अणु ही हो परन्तु यदि अणु परिमाण ही जीव होता है जो वह शरीर के जिस किसी भी एक देश में स्थित होकर समस्त शरीरगत दु:ख सुख का अनुभव कैसे करेगा विभु न होने से अणु पदार्थ में वैसी शक्ति न होने से ।

श्रीस्वामीजी- भगवन् ! आपका कहना ठीक है- जीव स्वत: व्यापक नहीं है किन्तु उसका धर्मभूत ज्ञान व्यापक हैं उसी से समस्त शरीरवर्ती सुख दु:ख का अनुभव करता है जैसे ललाट में धारण किया गया एक चन्दन बिन्दु ललाट के एक देश में स्थित होता हुआ भी पूरे शरीर में शैत्य का अनुभव कराता है यहाँ भी चन्दन सम्पूर्ण शरीर में आनन्द का प्रसार नहीं करता है अपितु शीतगुण व्यापक है, चन्दन बिन्दुगत सुरभिमय शैत्यमयधर्म वही समस्त शरीर को सुखी और शीतल करता है इसी प्रकार जीवगत धर्म अथवा धर्मभूत ज्ञान ही सम्पूर्ण शरीर में स्थित सुख दु:ख का ज्ञान कराता है इस पक्ष में कोई दोष नहीं है ।

सत्यमूर्ति- जीव की स्थिति शरीर के किस भाग में मानते हैं ।

श्रीस्वामीजी- हृदय में यह आत्मा, यहाँ एक सौ नाड़ी है इस प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सौ नाड़ियों का जो केन्द्र हृदय है उसी में जीव रहता है जैसे आकाश में स्थित सूर्य, आकाश में एक देश में स्थित होकर भी सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार हृदयाकाश के एक देश में विद्यमान जीव समस्त देह में व्याप्त होता है अपने धर्मज्ञान से । जैसे सूर्य अपने प्रकाश से ।

इस प्रकार विवाद करते हुए सत्यमूर्ति अपने प्रश्नों के उत्तर को सुनकर निरुत्तर हो गये, तत्पश्चात् उपक्रमपूर्वक दूसरा प्रश्न करते हैं ।

सत्यमूर्ति- भगवन् ! जैसे भगवान सत् चिद् आनन्द स्वरूप हैं अज अखण्ड अव्यक्त, अद्वितीय है उसी प्रकार "अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो" के अनुसार जीव भी ईश्वरांश सत् चिद् आनन्दस्वरूप सनातन है जैसे अग्नि वैसे ही अग्नि की चिनगारी दोनों का एकधमित्त्व होने से जीव और ईश्वर में क्या भेद है ?

श्रीस्वामीजी- भगवन् ! यह चिन्तनीय है जीव और ईश्वर में साम्य नहीं हो सकता क्योंकि- भगवान् विभु है जीव अणु है, भगवान् सर्वज्ञ है जीव अल्पज्ञ हैं, परमात्मा सर्वाधार और धारक हैं जीव धार्य है । भगवान् शेषी है जीव शेष है "अन्त में जो कुछ बचता है वह अशेष शेष भी मैं हूँ" ऐसा भगवद्वाक्य होने से ।

किञ्च- परमात्मा सबका शरीर है और जीव शरीरी एवं शरीर जन्य कर्म फल का भोक्ता है भगवान् तो सर्व नियन्ता नियामक है और जीव नियाम्य है भगवान् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं और जीव परतन्त्र ईश्वराधीन है परमात्मा तो एक ही है और जीव अनेक है भगवान् तो स्वीय इच्छानुरूप, क्रियारूप इच्छा शक्ति के अधीश और माया के प्रवर्तक हैं और जीव माया के अधीन है क्योंकि अपने अज्ञान के कारण माया में ही सम्पूर्ण आनन्द को मानता है परन्तु माया तो स्वयं भगवान् से आनन्द प्राप्त करती है अपने व्यवहार के लिए भगवान् के गुणों को स्वीकार करती है जैसे भागवत २.५.९ निर्गुण एवं विभु परमात्मा के तीन गुण सत्व, रज और तम गुणों को माया ने जगत् स्थिति, सृष्टि और संहार के लिए ग्रहण किया । भगवान् के सत् चिद् और आनन्द रूप धर्म से ही माया ने नाम बदलकर इन गुणों को ग्रहण किया है जैसे- सत् से सत्व, चिद् से रज और आनन्द से तम । माया ने नाम बदलकर इसलिए ग्रहण किया कि लोग भ्रान्त हों, अन्यथा व्यासजी ने निर्गुणस्य गुणास्त्रय ऐसा कैसे कहा ? क्योंकि भगवान् तो सर्वथा निर्गुण है फिर उसमें गुण का कथन असंगत हो जायेगा । इसलिए आचार्यों ने भगवान् का स्वरूप कहा है- प्राकृत धर्मों का अनाश्रय और अप्राकृत निखिल धर्म स्वरूप किन्तु जीव तो माया के गुणों में आबद्ध एवं परतन्त्र हैं भगवान् तो माया के स्वामी है माया उनकी आज्ञानुसार कार्य करती है यह स्पष्ट जीव और ईश्वर भेद है स्वामी और सेवक की तरह जीव और ईश्वर में भिन्नत्व ही है ऐक्य नहीं ।

सत्यमूर्ति- भगवन् ! यदि ऐसा है तो इसमें श्रुति भी प्रमाण है- जो जीवात्मा में रहने वाला जीवात्मा के भीतर है जिसे जीवात्मा नहीं जानता है जो जीवात्मा का नियमन करता है वह जीवात्मा का अर्न्तयामी अमृत है इत्यादि श्रुति एवं गीता में भी हे अर्जुन ! शरीर रूप यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के

अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित हैं इस वचन से जीव का भगवान् के अधीन होना स्पष्ट है और भी "उसी से साधु कर्म करवाता है जिसको ऊर्ध्वलोक में ले जाना चाहता है और उसी से असाधुकर्म करवाता है जिसे अधो लोक में ले जाना चाहता है" इस श्रुति से तो और भी स्पष्ट है कि भगवान् स्वयं ही सत् असत् कर्म में जीवों को प्रवृत्त करते हैं तो फिर क्यों जीवों पर सत् असत् कर्म का दोष देते हैं ? और सत् असत् कर्मों के प्रवर्तक और प्रेरक भगवान् पर दोष क्यों नहीं आता है ? दूसरी बात- कुछ लोगों से शुभ कर्म कराकर उन्हें स्वर्ग भेजने से और कुछ लोगों से अशुभ कर्म कराकर नरक भेजने से क्या ईश्वर में वैषम्य और नैर्ऋण्य दोष नहीं आयेगा ?

श्रीस्वामीजी- भगवन् ! यहाँ आपका दो प्रश्न है पहला जब भगवान् स्वयं अन्तर्यामी होकर सबको सत् असत् कर्मों के लिए प्रेरणा देते हैं तो जीव का कोई दोष नहीं है सारा दोष परमात्मा का ही है ।

२. और दूसरा- स्वयं प्रेरक होकर लोगों से कर्म कराकर और फल का भागी दूसरों को बनाकर सुख दु:खादि के दण्ड से दण्डित करते हैं उसमें भी कुछ लोगों को स्वर्ग और कुछ लोगों को नरक यह भेद बुद्धि और निर्दयता दोष भी है । उन जीवों से उस प्रकार कार्य करवाकर नरकगामी बनाते हैं । अत: द्वैतज्ञा की स्थिति स्पष्ट है- इस विषय में उत्तर ।

१. प्रथम प्रश्न का उत्तर- परमात्मा किसी को भी दुष्कर्म में प्रेरित नहीं करता है वह तो हमेशा सत्कर्म करने की प्रेरणा देता है जीव जब दुष्कर्म में प्रवृत्त होता है तब सबसे पहले उसे प्रबोध देते हैं कि तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए यह ठीक नहीं है तुम्हारे स्वरूप के अनुरूप नहीं है इस प्रकार दिल के धड़कन द्वारा सूचित करते हैं परन्तु वह जीव माया के वशीभूत होकर इन्द्रियादि के लोभ से आकृष्ट होकर जानते हुए भी नहीं जानते हुए चालाकी के कारण देखते हुए नहीं देखता है पूर्वजन्म के प्रारब्ध के कारण ही कर्म में प्रवृत्त होता है फिर उसके फल को भोगता है फिर पश्चाताप भी करता है और विचार करता है कि भगवान् ने मुझे पहले ही हृदय की धड़कनों, शरीर स्तम्भन शरीर में रोमांच आदि के क्रियाओं के द्वारा सचेत करने पर भी अपने द्वारा बार-बार उस निर्देश की अवहेलना को शोच शौच कर हृदय की धड़कन रूपी क्रिया का चिन्तन करता है कि मैंने अपनी इन्द्रियों के वशीभूत

होकर कामना की पूर्ति के लिये ही खोटा कर्म क्रिया । मेरे द्वारा बहुत बड़ा अनर्थ किया गया इस प्रकार से विचार करता हुआ व्यथित होता है । ये बात सभी जानते हैं । अत: भगवान् किसी जीव को दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं करते हैं । क्योंकि भगवान का दिया हुआ ज्ञान जीव में पहले से ही है ज्ञान की जीव का स्वाभाविक धर्म है कि क्या करना चाहिये क्या नहीं इस प्रकार चिन्तरूप ज्ञान तो उसमें है ही फिर भी उसके अनुरूप नहीं चलता । मायाजाल में पड़ा हुआ इच्छा के अनुसार छलांग लगाता है और स्वयं ही पूर्व जन्मार्जित कर्म फलों को भोगने के लिये अंधकूप में पड़ जाता है । वहाँ भगवान् क्या करे? माया से मोहित जीव जब उनकी आज्ञा को नहीं मानता है । तो वहाँ भगवान् का कोई दोष नहीं है । अत: वेदान्त दर्शन के अनुसार ।

अत: 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य:' इस ब्रह्मसूत्र का भी तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है कि जीव तो स्वयं अपने पूर्वजन्म के कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ है तत्तकर्मों को भोगने के लिए ही आया हुआ है भगवान् तो केवल मध्यस्थ हैं समय-समय पर उचित-अनुचित विमर्श के लिए उसके हृदय के कम्पनादि के द्वारा प्रत्यक्ष न आकर परोक्ष रूप से बोध देते हैं किन्तु अज्ञानी जीव उस पर ध्यान नहीं देता है और न ही हित अनहित का चिन्तन करता है अन्त:करण की आवाजा को सुनाता है मनमानी कर्म करता है तब भगवान् भी तदनुसार ही उसका फलादि भोग कराकर शोधन करते हैं जैसे कोई न्यायाधीश अपने अभियुक्त के कर्मानुसार ही अपनी दण्ड व्यवस्था का विधान करता है वहाँ कोई पक्षपात या व्यामोह नहीं होता है वह दण्डाधिकारी तो तटस्थ होता है उसका किसी से द्वेष या स्नेह नहीं होता है वह तो अपने नियम धारा के अनुसार दण्ड विधान करता है । और निर्दोषता होने पर बन्धन से छोड़ने की आज्ञा देता है इसी प्रकार भगवान् भी हैं-

२. दूसरे प्रश्न का उत्तर- एष एव साधु कर्म कारयति इस श्रुति का तात्पर्य जो आपने समझा है वह नहीं है इस श्रुति का तात्पर्य है कि जो जीव अपनी प्रवृत्ति के अनुसार भगवान् की जैसी आज्ञा होती है वैसा ही आचरण करता है तब भगवान् भी उसे वैसी प्रेरणा देते हैं बलपूर्वक किसी को भी अपनी ओर नहीं खींचते हैं । अपितु स्वतन्त्र रूप से जीव की इच्छा के अनुरूप उसकी इच्छा ही उसको कर्म

कराती है और भगवान उसका अनुसरण करते हैं । किञ्चिद् भी विरोध नहीं करते । इस प्रकार से वह जीव स्वेच्छाचारी होकर भगवान की आज्ञा का उनकी प्रेरणा का तिरस्कार कर सत्कर्म में न लगकर हमेशा दुष्कर्म में आसक्त होता है । हृदयकम्पादि के द्वारा परोक्ष विधि से भगवान के द्वारा कहे जाने पर भी भगवान की आज्ञा का पालन नहीं करता फिर भी उसे उस समय कुछ भी नहीं कहते और न रोकते हैं । हृदयकम्पन मुखमालिन्य रोमांचाद्रि निषेधात्मक परोक्ष सूचना देते हैं उसका तिरस्कार करता हुआ उस प्रकार के दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है तो भी भगवान उसकी इच्छा को दमनकर उसे नहीं रोकत अपितु उसे इच्छानुसार व्यवहार करने के लिये स्वतन्त्र कर देते हैं । जीव भी मनमानी दुष्कर्म करके स्वयं ही उसके फल को भोगता है । क्योंकि किये गये कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा । उसका भोग से ही नाश होगा अन्यथा नहीं । कहा भी गया है ''प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही नाश होता है । इसलिये भगवान् यहाँ भी दोष के भागी नहीं है । जबरदस्ती दुष्कर्म में लगने पर भगवान भी अनुमोदन कर देते हैं । उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल ही उसका समर्थन करते हैं इसलिये यहाँ पर भगवान लव मात्र भी दोष के भागी नहीं है । विशेष बात यह है कि जीव के अनेक जन्मों के कर्मों के अनुशय हैं वे ही तत्तत्कर्मजन्य भावना हैं और वे ही कर्मों के प्रेरक हैं अपनी-अपनी भावना के अनुसार ही जीव शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है ईश्वर तो कूटस्थ है और तत्तत्कृत कर्मजनितफल की उपलब्धि के नियामक हैं और यथा समय तत्कर्म फल भोग के लिए प्रेरित करते रहते हैं तथापि भगवान् अकारण करुणावरुणालय कोमल चित्त हैं जब जीव कर्मों से ऊबकर अत्यन्त खिन्न होकर भगवान्० की शरण में जाता है अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है तब भगवान् अविलम्ब ही दया करके उसे पापों से मुक्त करके शीघ्र ही उसका उद्धार करते हैं उस समय किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करते हैं जैसे किसी राजा का कृपापात्र अपराधी होने पर भी नियमानुसार दण्ड का भागी नहीं होता है अपितु कृपा विशेष बल की सहायता से राजा का प्रिय

होकर राजा के साथ ही आमोद-प्रमोद का अनुभव करता है उसी प्रकार जीव भी भगवत्कृपा परवश भगवान् की शरण में रहकर परमानन्द का अनुभव करता है ।

सत्यमूर्ति- भगवन् ! जब ईश्वर सर्वसमर्थ है तो वह जीव से प्रतिकूल कर्म होते देखकर उसे रोकता क्यों नहीं है ?

श्रीस्वामीजी- भैया ! भगवान् ने तो पहले ही हिताहित के ज्ञान के लिए और सत् असत् के विवेचन के लिए पण्डा नाम की बुद्धि प्रदान किया है उसके लिए अनेक वेद पुराण शास्त्र भागवत गीता भी बनवाकर रख दिया है फिर भी जान बूझकर देखता हुआ भी जब वह अन्धे कुएँ में गिरता है तो इसमें किसका दोष कहा जाय ?

सत्यमूर्ति- भगवन् ! आपने कहा कि जीव अनन्त है परन्तु शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि आत्मा तो एक और भेदरहित है फिर दो मान्यताएं कैसे ?

श्रीस्वामी जी- भगवन् ! 'आत्मा त्वेक एव' इस श्रुति का अर्थ आपने ठीक से नहीं सोचा है श्रुति का अभिप्राय इस प्रकार है आत्मा एक है अर्थात् एक आकारवान् है विभिन्न आकारवान् नहीं है जैसे एक जीव अणु है विभु नहीं है उसी प्रकार सभी जीव अणु हैं व्यापक नहीं है और भी सुख दु:ख के अनुभव में भी दोनों समान हैं जैसे एक जीव समय-समय पर सुख दु:ख का अनुभव करता है उसी प्रकार सभी जीव समय-समय सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं इसी दृष्टि से भेद राहित्य है संख्या की दृष्टि से तो जीव प्रति शरीर में अलग-अलग है और अनन्त है यदि एक जीव मानेंगे तो एक जीव के सुखी होने पर दूसरे को भी सुखी होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है अपितु पिता दु:ख भोगता है और बेटा सुखी है एक धनी है, एक दरिद्र है एक राज्य करता है दूसरा भीख माँगता है एक ही घर में सहोदर भाईयों में माता-पिता में, पति पत्नी में विषमता है अत: जीव अनन्त है । दूसरी बात है "जीव तो एक ही है परन्तु शरीर अनेक है अत: शरीर के भिन्न-भिन्न होने से ही सुख दुख का भेद होता है" ऐसी धारणा भी ठीक नहीं है क्योंकि सौभरिजी तो एक थे परन्तु तप: प्रभाव से ५० शरीर धारण करके सबसे अलग-अलग सुख-दु:ख का अनुभव करते थे वहाँ केवल शरीर भेद कारण नहीं है अपितु शरीर के अन्तवर्ती जीव का भेद भी कारण है ।

सौभरि महर्षि तो एक थे और तपोबल से अनेक हो गये अत: प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न सुख-दु:ख का अनुभव हुआ । ऐसा प्रतीत होता है कि सौभरि के सभी शरीरों में जीवात्मा एक थी परन्तु एक होने पर भी प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न सुख-दु:ख का अनुभव होता था अत: निश्चित होता है कि विभिन्न सुख-दु:ख के लिए केवल देह भेद ही कारण नहीं है अपितु देहभेद के साथ-साथ जीव भेद भी कारण है उस समय सौभरि जी के विभिन्न शरीर के साथ तपोबल से अनेक जीव थे इसलिए अलग-अलग सुख-दु:ख का अनुभव हुआ अत: सिद्ध हुआ कि सुख दुख के अनुभव में देह भेद के साथ-साथ जीव भेद भी कारण है अन्यथाा बिना जीव के मृत शरीर में सुख-दु:ख का अनुभव हो, मृत शरीर तो न कोई चेष्टा करता है नहीं अनुभव अत: सर्वत्र जीवात्मा ही कर्ता भोक्ता है केवल शरीर नहीं, परन्तु जीव भी देह द्वारा ही सुख-दुख का अनुभव करता है स्वतन्त्र नहीं, देह के माध्यम से ही सब कुछ करता है इसीलिए जीव से किये गये का देह में व्यवहार करते हैं इसीलिए लोग देह को कर्ता मानते हैं ।

इसीलिए जीव जिस-जिस शरीर से शुभाशुभ कर्म करता है उस कर्म का फल उसी से अनुभव करे ऐसा नियम नहीं है जन्मान्तर में किये गये शुभाशुभ कर्मों के फल सुख दु:खादि दूसरे जन्म में नवीन शरीर धारण करके भोगता है ।

जो पूर्व जन्मार्जित कर्म अथवा कर्मफल नवीन शरीर से भोगा जाता है उसका नवीन शरीर में "मैं अब अमुक कर्मफल भोग रहा हूँ यह स्मरण नहीं रहता है पूर्व जन्म में संस्कार नये जन्मकाल के कष्टानुभव के समय ही भूल जाते हैं अत एव जन्म के समय माता के गर्भ से बाहर आते ही सब कुछ भूल कर मैं कहाँ, मैं कहाँ, मैं कहाँ ऐसा बोलता है कुछ भी याद नहीं रहता है इसमें पूर्वजन्मार्जित संस्कार का नाश ही कारण है किञ्च नये जन्म में नवीन शरीर. के प्राप्त होने से तद् देहगत शुभाशुभवासनों के उदित होने से, उद्भूत होने से, विस्मृत होने पर भी । उनमें भी कुछ योगियों को योग प्रभाव से अपने पूर्व जन्मों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है लेकिन यह सर्वसाधारण लोगों के अनुभूति का विषय नहीं है । अत: देहादि धारण के बाद सुख दु:खादि के अनुभव व व्याप्ति में देह भेद कारण नहीं है । अपितु जीवों का

नानात्व भिन्न-भिन्नरूपत्व कारण है अतः जीव नाना और प्रत्येक शरीर में भिन्न है । कहीं पर भी जीव की एक संख्या नहीं है ।

श्रुति में भी-जैसे अग्नि से छोटी-छोटी अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार से अनन्त पुण्यात्मा एवं पापात्मा जीव प्रकट होते हैं इस श्रुति से प्रतीत होता है कि-

अचानक ही अग्नि से असंख्य चिनगारियों की तरह तत्काल जीव प्रकट होते हैं किञ्च उस परमात्मा के स्वरूप का कथन करने के लिए वह प्रत्येक रूप में प्रकट हुआ, एवम् उसकी सृष्टि करके उसी में प्रवेश कर गया इत्यादि के द्वारा अनेक देहों में दो पैर वाले, चार पैर वाले देहों में अलग-अलग ही प्रविष्ट हुआ इससे तो जीव का नानात्व सरलता से सिद्ध होता है ।

किञ्च :- **''नित्योनित्यश्चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति-कामान् ।''**

किञ्च:- जो नित्य चेतन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा अकेले ही बहुत से नित्य चेतन जीवात्माओं के कर्मफल भोगों का विधान करते हैं इत्यादि एवम् पहले द्विपदो, चतुष्पदों को बनाया फिर पक्षी होकर पुरुष में प्रवेश कर गया इत्यादि अनेक श्रुतियों से जीवों का नानात्व, भिन्न-भिन्न शरीरों में नाना जीवों के प्रवेश के साथ ही नियन्ता के रूप में अनेक अन्तर्यामी परमात्मा का भी पृथक्-पृथक् प्रवेश होता है जीवात्मा और अर्न्तयामी का मिथः सख्य भाव तो प्रसिद्ध ही है ।

यथा:- **''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो ह्यभिचाकशीति ।।''

जैसे- सदा साथ रहने वाले परस्पर सख्यभाव रखने वाले दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा एक ही शरीर रूपी वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं उन दोनों में से एक जीवात्मा तो उस वृक्ष के फलों-कर्मफलों को स्वाद ले लेकर खाता है और दूसरा (ईश्वर) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है ।

अतः जीवों के अनेक होने में और अन्तर्यामी परमात्मा के अनन्त होने में शंका ही नहीं उत्पन्न होनी चाहिए ।

सत्यमूर्तिः- भगवन् ! श्रुतियों में तो प्रतिपादित है कि- ब्रह्म एक अर्थात् सजातीय द्वितीय से रहित है, सभी जगह वह स्वगत भेद से रहित आत्मा है करपादमुख उदर आदि सब कुछ आनन्द ही है इत्यादि तब इन वचनों का क्या अभिप्राय है ।

श्रीस्वामीजी- ब्रह्म तो एक ही है ब्रह्म से भिन्न ब्रह्माण्ड में कुछ भी नहीं है वही सब है सब रूपों में हुआ है इस वचन से । जो भगवान् के लिए आनन्द मात्र कर पाद इत्यादि कहा है वह सब यथार्थ ही है समुद्र में जैसे जिस किसी भी स्थल में जाकर जल पीयें सर्वत्र एक रस का ही अनुभव होगा । इसी प्रकार कहा कि वह सैन्धवघन है तो जैसे यहाँ सैन्धव के अतिरिक्त अन्य किसी रस की अनुभूति नहीं होती है अपरिमित और अगणित आनन्द मय परमात्मा में सर्वांश में सकलावयवेन केवल आनन्द का ही अनुभव होगा समर्थ भक्त को ।

आनन्द के अलावा दूसरा कुछ भी नहीं दिखेगा । अतएव ब्रह्म के रसरूप होने से ब्रह्मव्यतिरिक्त पदार्थ के न होने से इतर भेदविवर्जितत्व भी ब्रह्म में नहीं है इसलिए वेद में स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं है तदतिरिक्त वस्तु के न होने से अन्य शब्द की प्रवृत्ति ही यहाँ नहीं है । अतः स्वगत भेद का अभाव प्रतिपादित हुआ । फिर भी उस ब्रह्म में सजातीयस्वगत भेद नहीं है किन्तु विजातीय भेद तो रहेगा ही, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं है तो विजातीय का सर्वथा अभाव होने से विजातीय भेद ही है अर्थात् वहाँ विजातीयत्व नहीं है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ब्रह्ममय या ब्रह्मस्वरूप होने से ।

सत्यमूर्तिः- भगवन् ! वेदों में जो कहा गया है ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है एवं वह साक्षी, चेतन केवल और निर्गुण है इस कथन से ब्रह्म में निर्गुणत्व, निर्विशेषत्व का प्रतिपादन हो रहा है तब विशुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में सगुणत्व और साकारत्व कैसे सिद्ध होता है ?

श्रीस्वामीजीः- भगवन् ! श्रुति में ही स्पष्ट वर्णित है किन्तु लोग अपनी रूचि के अनुरूप अर्थ की कल्पना करते हैं । निर्गुण की उत्पत्ति भी गुणों से ही है यदि गुण होंगे तभी गुणाभाव होगा अन्यथा नहीं । अतः ब्रह्म का स्वरूप सत्य, ज्ञान और अनन्त ऐसा कहा गया है अब यहाँ यदि ब्रह्म

निर्गुण है सर्वथा गुण रहित है तो वह एक ही होगा फिर अनन्तत्व कैसे होगा? गुणों के न्यूनाधिक्य के कारण ही नानारूपता अनन्तरूपता सिद्ध हो सकती है अब यदि अनन्तत्व को एक प्रकार का गुण अथवा धर्म मानते हैं तो अनन्तत्व को धर्म मानने से ब्रह्म धर्मी हो गया तब वह सावयव होने लगेगा यदि गुण मानें तो सुतरां सगुणत्व सिद्ध हो गया अतः ब्रह्म सर्वथा निर्गुण नहीं हो सकता । ब्रह्म शब्द का वाच्य भगवान् ही हैं वह सर्वथा न निर्गुण न निरीह, न निर्विशेष है अपितु सगुण, सर्वाकार सविशेष और सस्पृह हैं निर्गुण श्रुति का तात्पर्य प्राकृत गुणों का निषेध है ब्रह्म में प्राकृत गुण नहीं है इसलिए निर्गुण है किन्तु भगवान् के जो नित्य धर्म है अप्राकृत गुण हैं वे तो उनमें हमेशा रहते हैं इस प्रकार निराकार शब्द के विषय में समझना चाहिए अर्थात् अनेक नाम रूपादि आकार जिससे प्रकट होते हैं उसे निराकार कहते हैं भगवान् के आकार हैं इसलिए भगवान् साकार हैं यदि निराकार शब्द का अर्थ आकार रहित है तो निराकार का तात्पर्य प्राकृत आकार से रहित चिन्मय, क्योंकि सामान्य आकार से सामान्य कार्य ही हो पायेगा विशेष नहीं । जैसे- जब भगवान् श्री कृष्ण यशोदा के भवन में एक महिने से भी कम उम्र के अर्थात् ६ दिन के थे तभी पूतना उन्हें सामान्य बालक समझकर अपनी गोद में उठाकर अपना विषयुक्त स्तन पान कराया जिससे वह बालक मुख से जिह्वा से स्पर्श करते ही मर जाय परन्तु भगवान् तो प्राकृत आकार वाले प्राकृत बालक तो थे नहीं, उन्होंने तो छोटे से बालक होते हुए भी महाकाय उस निशाचरी को मार डाला भागवत में क्रोध में आकर दूध पीने के बहाने उसके प्राणों को भी पी लिया फिर तो वह अत्यन्त व्याकुल हो गयी, अब तो पूतना के प्राणों के आश्रयभूत सभी मर्मस्थान फटने लगे वह पुकारने लगी, अरे छोड़ दो, छोड़ दो, अब बसकर, वह बार-बार अपने हाथ और पैर पटकने लगी उसके नेत्र उलट गये, उसका सारा शरीर पसीने से लथ पथ हो गया । इससे परमात्मा का अप्राकृत शरीर सिद्ध होता है एक महिने का बालक ऐसा नहीं कर सकता है अतः परमात्मा प्राकृताकार से रहित है और साकार है और भी लगभग सात वर्षीय भगवान् श्री कृष्ण ने सात कोश के विशालकाय गोवर्धन पर्वत को तत्काल उखाड़कर अपनी कनिष्ठिका अंगुली के अग्र भाग पर सतत सात दिनों तक धारण किया थोड़ा भी हिले नहीं । सात वर्ष का सामान्य बालक सात सेर सोना भी लगातार

सात घण्टे तक नहीं उठा सकता है फिर सात दिन तक की क्या कथा ? यह प्रश्न उसी समय गोपों ने सन्देह करते हुए नन्दरायजी से पूछा था और नन्दराय जी ने उसका समाधान भी किया था ।

प्रश्नस्तेषाम्- **''नन्द ! ते तनयोऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिक: कथम् ।''**

उनका प्रश्न- हे नन्द जी ! तुम्हारे इस साँवले बालक पर हम सभी ब्रजवासियों का स्वाभाविक प्रेम है इसका क्या कारण है ? कहाँ तो यह सात वर्ष का नन्हा सा बालक और कहाँ इतने बड़े गिरिराज को सात दिनों तक उठाये रखना । व्रज राज इसी से तुम्हारे पुत्र के सम्बन्ध में शंका होती है । (भागवत् दशम २६-१३-१४)

उसके बाद श्रीनन्दराज जी ने भगवान् के विशिष्टस्वरूप गुणकर्म का वर्णन करके उनका समाधान किया अत: भगवान् के प्राकृत गुण, धर्म और आकार नहीं है भगवान् के विरुद्ध धर्माश्रय होने से असम्भव कार्य को भी करने में समर्थ है जैसे वेद:-

बिना हाथ पैर के चलते हैं सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं बिना नेत्र के देखते हैं बिना कान के सुनते हैं इत्यादि वेद स्वयं ही प्रतिपादित करते हैं कि भगवान् के नाना रूप और आकार हैं तथा प्राकृत गुण धर्म और आकार नहीं है । अत: प्राकृत आकारादि से रहित होने से ही वे निराकार हैं और भी ज्ञान, आनन्द आदि ब्रह्म के विशेष धर्म हैं उसी प्रकार चेतन और अचेतन स्वरूप सम्पूर्ण जगत् भी ब्रह्म का एक विशेष शरीर है अत: निर्विशेष ब्रह्म हो नहीं सकता बल्कि सविशेष ही ब्रह्म होता है ।

'सत्यमूर्ति:'-भगवन् ! जो यह कहा जाता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है शेष सब जगत् मिथ्या है प्रपञ्चस्वरूप जगत् मिथ्या और मायामय है और माया ब्रह्म की एक शक्ति है फिर वह भी अनिर्वचनीय, अगण्य, तुच्छपदार्थरूप है यह बात कितना सत्य है ?

'श्रीस्वामीजी- भगवन् ! ये सब बातें शांकर सम्प्रदाय में मानी जाती है परन्तु ये सब वदतो व्याघात दोष से युक्त है क्योंकि- ब्रह्म सत्य है यह तो सभी का मत है किन्तु यह जगत् कहाँ से आया ? जगत् की उत्पत्ति भी ब्रह्म से ही हुई है तो क्या असत् से सत् अथवा सत् से असत् की उत्पत्ति होती है यदि कर्ता ब्रह्म सत्य है तो कार्य जगत् असत्य कैसे ? असत् नाम से कोई

भी पदार्थ ही नहीं था अधिक क्या ब्रह्म से अलग कुछ भी नहीं था । इसमें प्रमाण श्रुतियाँ- वह अकेला रमण नहीं कर सकता, उसने किसी दूसरे की इच्छा की, उसने देखा अपने से अतिरिक्त किसी अन्य को नहीं देखा वह सत् और त्यद् के रूप में हो गया इति और भी मैं एक हूँ और बहुत रूपों में हो जाऊँ, सृष्टि करूँ इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है कि उस समय ब्रह्म से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं था ब्रह्म के मन में बहुत बनने की इच्छा हुई जब अपने अतिरिक्त किसी और को नहीं देखा तब स्वयं नाना आकार धारण करके प्रकट हो गये चेतन और जड जगत् को अपने से ही प्रकट कर दिया तस्माद् यह जगत् भी ब्रह्म ही है फिर यह मिथ्या कैसे होगा ? उस समय जब कोई असत् पदार्थ ही नहीं था तब यह जगत् असत् कैसे होगा ?

किञ्च- माया का प्रपञ्च यह जगत् नहीं है जगत् तो ब्रह्म स्वरूप सत्य है प्रपञ्च तो संसार है अहन्ता, ममता रूपी जो माया है उसका प्रपञ्च संसार है यह मेरा और यह मैं यही माया है संसार तो जगद् से भिन्न है जगत् तो ब्रह्म से उत्पन्न होता है और अन्त में अपने आधार समुत्पादक ब्रह्म में लीन हो जाता है, अत: अतति व्याप्नोति सर्वत्र स्थिति वाला अर्थात् व्याप्त । भगवान् ने स्वेच्छा से ही अपने विहार के लिए जगत् को उत्पन्न किया है तो सत्य संकल्प सत्यकाम के विहार का उपयोगी जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है । इसी प्रकार माया भी ब्रह्म की इच्छाशक्ति, क्रिया शक्ति, ज्ञानशक्ति रूप है तो वह भी ब्रह्मस्वरूप ही है ब्रह्म का धर्म, ज्ञान, कृति, शक्ति ये सब ब्रह्म ही है ब्रह्म से भिन्न नहीं है क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद है ब्रह्म स्वरूपा माया भी कैसे तुच्छ हो सकती है ? किसी भी मनुष्य की कैसी भी इच्छा उस आदमी से भिन्न नहीं हो सकती है ।

सत्यमूर्ति:- भगवन् शाङ्कर सिद्धान्त में जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब, आभास मात्र ब्रह्म समस्वभाव विशिष्ट प्रकाशवान् और नित्य मुक्त माना जाता है इसमें आपकी क्या राय है ?

श्रीस्वामीजी- जीव कभी भी न तो ब्रह्म का आभास हो सकता है न उसका प्रति बिम्ब मात्र है और न स्वप्रकाशरूप है और नहीं नित्यमुक्त हो सकता है । क्योंकि श्रुति में प्रतिपादित है कि जैसे अग्नि से अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार इस आत्मा से ही सभी जीव प्रकट होते हैं इति, अग्नि से जैसे अग्नि के सूक्ष्मकण बाहर निकलते हैं वैसे ही ब्रह्म के

अंशभूत जीवों की सहसा समुत्पत्ति होती है अतः ब्रह्मांश जीव अणु, अल्पज्ञ, ब्रह्म परतन्त्र और ईश्वर नियम्य होते हैं । भगवान् तो नियामक हैं सर्वतन्त्र है सर्वशक्तिमान् हैं विभु है परन्तु जीव वैसा नहीं है तो कैसे जीव ब्रह्म सम स्वभाववाला हो सकता है ?

सत्यमूर्ति- भगवन् ! जैसे घटान्र्तवर्ती आकाश आकाश से पृथक् दिखता है परन्तु यदि घट फूट जाय तो घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है इसी प्रकार स्वदशा में तो पृथक् है परन्तु मुक्तावस्था में ब्रह्म में लीन हो जाता है उस समय तो ब्रह्म में लीन होने से ब्रह्म रूप हो गया तब जीव का पृथक् अस्तित्व नहीं है इस विषय में आपकी क्या राय है ?

श्रीस्वामीजी- महाशय ! ठीक कहा आपने किन्तु जीव अल्पज्ञ, ब्रह्मांश, अल्पशक्तिमान् है तब ब्रह्म में लीन होने के बाद भी मुक्ति काल तक ब्रह्म में ब्रह्मस्वरूप से ही रहता है किन्तु पुनः सृष्टिकाल में जैसे ही ब्रह्म से पृथक होगा । वैसे ही अपने-अपने अनुशयों के साथ ही पूर्वरूप गुणों के अनुसार ही पूर्ववद् प्रकृति स्वभाव वाला होगा किन्तु मुक्तिकाल में ऐसे होगा जैसे अग्नि में अयोगोलक, अग्नि में सन्तप्त हो जाने पर जैसे अग्नि और अयोगोलक में भेद करना मुश्किल होता है और वह अयोगोलक अग्निवद् दाहादि कार्य करता है जब अग्नि शान्त हो जाती है तब अयोगोलक अयोगोलक ही रहता है अब उससे दाहादिकार्य नहीं होता है एवं उसका वर्ण सुवर्ण वर्ण न होकर लोहे के जैसे कालारंग होता है इसी प्रकार मुक्तिकाल तक जीवों की ब्रह्म में स्थिति तदनन्तर जीव स्वरूप की प्राप्ति । अतः जीव और ब्रह्म दोनों में कभी भी ऐक्य नहीं हो सकता । जीव तो मुक्त दशा में ही ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है ।

सत्यमूर्ति- भगवन् ! जीवों की मुक्ति के लिए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का ज्ञान ही पर्याप्त होगा अथवा उस ज्ञान से स्वात्मा में 'मैं ब्रह्म हूँ'' यह धारणा ही पर्याप्त होगी अथवा कोई अन्य कारण ?

श्रीस्वामीजी- महाशय ! वास्तव में न तो ''तत्त्वमसि'' इस ज्ञान से मुक्ति होती है और न ही, मैं ब्रह्म हूँ'' इस अभिमान से मुक्ति होती है बल्कि अभिमानी का तो अधः पतन ही होता है ''बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती है'' इस सिद्धान्त के अनुसार यदि तत्त्व ज्ञान हो जाय- जीव और ब्रह्म में भेद की

प्रतीति न हो, और जब कुत्ता और चाण्डाल में समत्व का बोध हो जाय और यह व्यवहार स्वतः दृढ़तर हो जाय तो ज्ञान से भी मुक्ति हो सकती है किन्तु वह न तो आत्यन्तिकी मुक्ति होगी और नहीं उसमें आत्म सुख प्राप्त होगा ऐसी मुक्ति में तो अपना भी लोप करना पड़ता है जैसे गंगा यमुनादि का समुद्र से मिलने पर खुद का अस्तित्व नष्ट हो जाता है ऐसी ही मुक्ति है । यदि कोई जब समस्त कर्मबन्धनों से अपने को मुक्त करना चाहता है तो उसे सर्वदा सर्वात्मभाव से अविच्छिन्न रूप से निश्चित अनुस्मृति रूप भगवान् की भक्ति करनी चाहिए उसी से भगवान् की प्रसन्नता होती है कहा भी है- भगवान् केवल भक्ति से प्रसन्न होते हैं गुणों से नहीं क्योंकि माधव को भक्ति प्रिय हैं और अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होते हैं-

गीता में भी- उस परा भक्ति के द्वारा मेरे को तत्त्व से जानकर तत्काल ही मेरे में प्रवेश हो जाता है इति स्पष्ट रूप से कहा गया कि भक्ति से ही भगवान् का तत्त्व से ज्ञान प्राप्त हो सकता है उसी ज्ञान से ही जीव का भगवान् में प्रवेश सम्भव है भगवत् प्रवेश ही मुक्ति है अतः भक्ति के बिना वास्तव में मुक्ति सम्भव नहीं है ।

किञ्च- **''नाऽयं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।**
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥'' इति ।

-(भागवते १०।९।२१)

किञ्च- यह गोपिका नन्दन भगवान् अनन्य प्रेमी भक्तों के लिए जितने सुलभ हैं उतने देहाभिमानी कर्मकाण्डी, तपस्वियों एवं अपने स्वरूपभूत ज्ञानियों के लिए भी नहीं है यदि जीव स्वयं को ही मैं ब्रह्म हूँ ऐसा मानता है या समझता है तो वह स्वयं ही अपराधी है, असत् में अभिनिवेश होने से स्वाभिमानी की कभी भी मुक्ति नहीं हो सकती और जो लोग ''तत्त्वमसि' इस वाक्य का ''तू ही स्वयं ब्रह्म हो'' ऐसा अर्थ करते हैं वे भी भ्रान्त हैं वस्तुतः इसका अर्थ है- जगत् का कारणभूत जो ब्रह्म है उसी का अंशभूत तुम हो अंश और अंशी में अभेद होने से, अथवा अवयव-अवयवी में अभेद होने से । इत्यादि भावना को स्वहृदय में दृढ़ करके भगवान् की उपासना करे । क्योंकि भावना ही सिद्धि प्रदान करती है कहा भी गया है- देवता न तो काष्ठ में है, पाषाण में और न मृण्मयमूर्ति में है देवता तो भाव में रहते हैं इसीलिए

सबका मूल भाव हैं । इस प्रकार की भावना से सुदृढ़ अनुराग होता है भगवान् में, तब उसकी मुक्ति सहज ही करगत हो जाती है ।

किञ्च-यह भी आशय है कि जैसे उपनिषदों में- ''अन्न ही ब्रह्म है'' अन्न की उपासना करो, मन ही ब्रह्म है उसकी उपासना करो, सूर्य ही ब्रह्म है उसकी उपासना करो, इत्यादि वाक्यों के द्वारा मन, अन्न, सूर्य आदि में ब्रह्म भाव को स्थिर करके उपासना करनी चाहिए ऐसा उपदेश मिलता है वैसे ही ''तत्त्वमसिश्वेतकेतो''इत्यादि वाक्यों के द्वारा जीव में भी ब्रह्म भावना को स्थिर करके उपासना करनी चाहिए अग्नि से प्रकट विस्फुलिंगवत् जीव के अंश होने से अंशी से पृथक् न होने से ब्रह्मांश को भी ब्रह्मरूप से उपासना करनी चाहिए ऐसा उपदेश है ।

किन्तु जीव साक्षाद् ब्रह्म नहीं हो सकता अंशत्वेन और तत्सम्बन्धेन तद्रूप मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए उसका समादर करना चाहिए किन्तु ब्रह्म और जीव का ऐक्य नहीं है यदि ब्रह्म और जीव का ऐक्य स्वीकार करेंगे तो शास्त्र विरुद्ध होगा स्व में स्व का प्रवेश कैसे हो सकेगा वेद में- लोगों के अन्त: में प्रविष्ट होकर शासन करते हैं यहाँ किञ्च- हे अर्जुन ! शरीर रूप यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है इस गीता वाक्य में भी स्पष्ट रूप से जीवों के शासन के लिए प्रति शरीर में समस्त जीवों के साथ ईश्वर का अन्तर्यामी रूप से प्रवेश का वर्णन मिलता है यदि जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं तो जीवों के शासन के लिए ईश्वर का प्रवेश क्यों ? कोई भी अपने से भिन्न पर ही शासन करता है अत: जीव और ब्रह्म एक नहीं है परस्पर भिन्न हैं इसी प्रकार मैं ब्रह्म हूँ इस वाक्य का भी अर्थ मैं साक्षाद् ब्रह्म हूँ ऐसा नहीं है अपितु मैं ब्रह्मात्मक हूँ ब्रह्म ही आत्मा मूल कारण है जिसका वह ब्रह्मात्मक है । पिता पुत्रवत् भेद है, पिता की आत्मा ही पुत्र है किन्तु भिन्न है पिता जैसे सम्मान्य भी होता है फिर भी भिन्न है पिता के कार्य को पिता ही करेगा पुत्र नहीं, इसी प्रकार ब्रह्मांश जीव ब्रह्म जैसे ही सम्मान्य, समुपास्य होगा परन्तु ब्रह्म से भिन्न होगा ।

इसी प्रकार ''ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है'' इत्यादि वाक्यों का भी तात्पर्य समझना चाहिए- सुषुप्ति दशा में ब्रह्म के समान ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है ''वह विपश्चिद् ब्रह्म के साथ ही सम्पूर्ण भोगों

को प्राप्त करता है इति'' जब भगवान् स्वयं जीव का वरण कर लेते हैं तब जीव भी स्वेच्छा से यथेष्ट पर्याप्त सम्पूर्ण कामोपभोगों को प्राप्त करता है उस समय भगवान् स्वयं जीव को प्रधान आसन पर बैठाकर स्वयं गौण होकर भक्त जीव को सम्पूर्ण वस्तुओं का उपभोग कराते हैं जैसे श्रीकृष्णावतार में श्री सुदामा जी को । परन्तु सामान्य मुक्ति दशा में तो परम साम्य प्राप्त होता है'' निरञ्जन पुरुष उत्कृष्ट समानता को प्राप्त करता है एकरूपता अथवा सर्वभाव से तादात्म्य नहीं होता है । यहाँ शंका होती है कि जीव के ब्रह्म के समान हो जाने पर भगवान् और जीव का जो मिथः पूज्यपूजक भाव, सेव्य-सेवक भाव है वह तो नष्ट हो जायेगा कि नहीं ?

किन्तु यह शंका निराधार है क्योंकि कहा है पिता के समान पुत्र और माता के समान कन्या, यहाँ पिता पुत्र के समान होने पर भी क्या पुत्र ही पिता हो गया क्या पुत्री माता हो गयी ? उनका परस्पर पूज्यपूजक भाव नष्ट हो जायेगा अथवा ऐक्य हो जायेगा तो एक आकार हो जायेगा ऐसा कदापि नहीं होगा उसी प्रकार जीव और ब्रह्म के समानत्व को समझना चाहिए, भक्त भगवान् के साम्य होने पर भी सेव्य सेवकत्व की हानि नहीं होगी ब्रह्मसूत्र में व्यासजी ने स्पष्ट कहा- कि भोगमात्र में ही ब्रह्म की समता है अन्य जगत् की रचना आदि में नहीं है (ब्र. सू. ४-४२१) आनन्दानुभव और सर्व वस्तु का उपभोग इनमें समान है जैसे श्रीकृष्ण सुदामा अतः भोगमात्र में साम्य है अन्यत्र नहीं, अतः साम्य होने पर भी जीव भगवान् का सेव्य सेवक भाव नष्ट नहीं होता है सर्वदा भगवान् ही सेव्य हैं और जीव सेवक है ।

सत्यमूर्तिः- भगवन् ! शांकरमत में माया, अविद्या, अज्ञान ये तीनों एक ही है पर्यायवाची है माया ब्रह्म के आश्रित होकर नाना भ्रमात्मक कार्यो को करती है और लोगों को भ्रम में डालती है इस विषय में आपकी क्या सम्मति है ?

श्रीस्वामीजी- भगवन् ! सबसे पहले तो यही भ्रम है कि ये तीनों पर्यायवाची हैं ये तीनों एक के नाम नहीं है अपितु माया और अज्ञान अलग-अलग है । क्योंकि माया तो ब्रह्म की शक्ति है और अज्ञान अभावरूप है ब्रह्म की शक्ति माया ब्रह्म के अधीन है और अज्ञान जीवाश्रित और जीव के अधीन है । जीवाधीन अज्ञान ब्रह्म तक जाने अथवा उनका स्पर्श करने में समर्थन नहीं हो सकता । अज्ञान का प्रभाव तो जीव पर ही फैलता है वह भी

जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता। मुक्त जीव का स्पर्श भी अज्ञान नहीं कर सकता क्योंकि अज्ञान के नाश होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है।

सत्यमूर्ति- जीवात्मा इसी शरीर से ब्रह्म साक्षात्कार कर सकता है कि नहीं, अथवा ब्रह्म साक्षात्कार करके जीवन्मुक्त हो सकता है या नहीं ?

श्रीस्वामीजी- बन्धुवर ! मैंने पूर्व में ही अनेकों बार कहा है कि अज्ञान से आवृत्त देह से जीव मुक्ति नहीं पा सकता। इस देह के परित्याग करने के बाद भी जीव-जीव है जीव दशा में रहता है कभी भी जीव ब्रह्म रूप अथवा ब्रह्म से अभिन्न नहीं होता है जीव की हर स्थिति ब्रह्म से भिन्न ही है एक नहीं।

किञ्च जो भगवान् के सर्वात्मना भक्त परम भागवत होते हैं वे तो कभी भी मुक्ति की कामना नहीं करते हैं भक्ति को छोड़कर। कहा भी है- मेरी भक्ति के अतिरिक्त पाँच प्रकार की मुक्ति भी हमारे भक्त नहीं चाहते। यह बात स्वयं भगवान् ने कहा है और भी भागवत में- हे भगवन् ! आपकी भक्ति सब प्रकार के कल्याण का मूल स्रोत उद्‌गम स्थान है जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति हेतु श्रम उठाते हैं और दुःख भोगते हैं उनको वश क्लेश ही क्लेश हाथ लगता है और कुछ नहीं जैसे- थोथी भूसी कूटने वाले को केवल श्रम ही मिलता है चावल नहीं। अर्थात् भक्त लोग भक्ति के बिना ज्ञान प्राप्ति और मुक्ति की प्राप्ति निन्दा ही करते हैं वे तो हमेशा जन्मजन्मान्तर में भी भक्ति की ही कामना करते हैं न कि मुक्ति की। मुक्ति तो भक्ति की दासी है वास्तव में तो मुक्तावस्था में ही भक्ति का वास्तव अधिकार प्राप्त होता है जैसे महारानी के समक्षदासी, वैसे ही भक्ति महारानी के समक्ष दासी मुक्ति।

इस प्रकार श्रीस्वामीजी के विवेचन को सुनकर सर्वात्मना सन्तुष्ट पण्डितराज सत्यमूर्ति अपने दार्शनिकत्वाभिमान को छोड़कर श्रद्धाभक्ति-पूर्वक स्वामीजी के शिष्यत्व की प्राप्ति हेतु श्रीराममन्त्र की दीक्षा स्वीकार करके श्रीवैष्णव सम्प्रदाय से सम्मानित होकर श्रीवैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए श्रीस्वामीजी की आशीर्वादयुक्त आज्ञा को पाकर अपने देश चले गये।

ऊनचासवाँ परिच्छेद

अथ एक बार श्रीमठ में विद्वत्प्रवरों से सम्यक् पूजित मञ्जु पीठासन पर विराजमान अनेक देववृन्दों से परिमण्डित बृहस्पति की तरह निज सुशिक्षित शिष्यगणों से सेवित स्वामीजी विविध विषयों को लेकर प्रवर्तित सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार में कटिबद्ध धर्माचार्यों से विचार-विमर्श कर रहे थे ।

उसी समय अचानक पृथिवी के धूलिकणों से समाच्छादित आकाश में तत्काल फैले हुए विशाल वितान की तरह सूर्य की किरणों को आवृत्त करने वाले वृत्त की तरह, सद्यः वृष्टि के उन्मुख सजल मेघ समुदाय की तरह आकाश को आच्छादित करने वाले को, असमय में गोधूलिवेला सम्पादन करने वाले धूलि कणों के समुदाय को धूल से कलुषित नेत्रों से लोगों ने काँपते हुए सभय और आश्चर्यपूर्वक देखा । कहाँ से यह असमय में इतना धूल उड़ रहा है ऐसा सोचते हुए सम्भ्रमपूर्वक तर्क करते हुए सभी लोग ज्यों ही बाहर देखते हैं उसी समय दूर से ही उड़ते हुए कलहंस की पंक्तियों की तरह अपने सामने ही आते हुए दौड़ते हुए वाहनों को ऊँट के पीठ पर सुसज्जित जीव से समलंकृत मखमली आसन पर बैठे हुए काले वस्त्र और चाँदी की पट्टिका से युक्त पगड़ी धारण किये हुए सोने चाँदी के तन्तुओं से निर्मित रंग बिरंगे वस्त्र धारण किये हुए जानु तक धौत अधो वस्त्र धारण किये हुए बगल में तलवार लटकाये हुए, कृपाण धारण किये हुए केशों से घिरे हुए मुख मण्डल वाले बादशाह की आज्ञा का पालन करने वाले उसके सैनिक श्रीमठ के समीप ही आते हुए दिखाई दिये ।

बड़ी तेजी से आकर आने का अभिप्राय निवेदित करके अपने ऊँटों से भेंट की सामग्री उतारकर द्वारपाल के द्वारा दिखाये मार्ग से साहसपूर्वक समीप जाकर श्रीस्वामी जी के चरणों में प्रणाम करके अपने आने का प्रयोजन एवं स्वकीय परिचय देते हुए रत्न समूहों को सामने उपस्थित करके निवेदन किया पूज्य चरण ! हम सब सकलराज-मण्डलसम्मान्य परम उदार दिल्ली सम्राट् बादशाह श्रीबहलोललोदी के सैनिक हैं । हमारे महाराज के शिर में अचानक भयंकर वेदना हो रही है बड़े-बड़े वैद्यविद्या के अनुभवी

वैद्य भी नहीं समझ पा रहे हैं बहुत उपचार किया गया लेकिन क्षणभर भी आराम नहीं हो रहा है दर्द और बढ़ता ही जा रहा है पूज्य चरण स्वामीजी का तप: प्रभाव और विश्व विश्रुत पावन यशोगाथा को सुनकर अनुनयपूर्वक निवेदन के लिए अपनी प्रतिक्षण वर्धमान व्यथा को निवेदनके लिए हम लोगों को भेजा है ।

भगवन् ! सैकड़ों भारतीय आयुर्वेद के विद्वान् वैद्य और मुस्लिम डाक्टर लोग सैकड़ों हजारों संशय करते हुए उपचार करते हैं परन्तु बादशाह की शिरोवेदना को दूर नहीं कर पाये इसलिए हमारे बादशाह ने सानुनय आग्रहपूर्वक पूज्यचरण महाराज श्री को अपने चरणों की धूलि से दिल्ली को पवित्र करने हेतु प्रार्थना किया है । और आपको ले आने के लिए ही हम लोगों को भेजा है राजा, गुरु, देवता और वैद्यों के यहाँ खाला हाथ नहीं जाना चाहिए इस नियम को स्वीकार करके श्रीचरणों में भेंट के लिए ये रत्नराशि भी भेजा है ऐसा कहकर अति महंगी मूल्यों वाली चमचमाती किरणों वाली माणिक्य, पन्ना, हीरा, मोतियों के समुदाय अनेक सोने-चाँदी के पात्रों में विविध हारों को श्रीस्वामीजी के चरणों में रखकर निवेदन करने लगे-आप श्री बादशाह के द्वारा प्रेषित इस उपहार को स्वीकार करें और हम लोगों के साथ ही चलकर अपने श्रीचरणों के रज से दिल्ली को पवित्र करते हुए श्रीबादशाह के शिर की वेदना को दूर करके स्वास्थ्य लाभ प्रदान करके उपकार करने की कृपा करें ।

इस प्रकार उनकी वाणी सुनकर स्वामी जी ने मधुर वाणी में कहा कि मैं यहीं बैठकर ही उनकी शिरोवेदना की शान्ति हेतु अपने भगवान् की प्रार्थना करता हूँ विशेष कार्य होने से इस समय दिल्ली जाने का समय नहीं है फिर कभी आयेंगे, इस समय तुम सब जाओ, आप लोगों के बादशाह रोगमुक्त मिलेंगे अब तुम्हारे श्रीमान् बादशाह सर्वथा स्वस्थ हो गये वे पीड़ित नहीं है वे तुम लोगों को हासोल्लासपूर्वक क्रीड़ा करते हुए ही मिलेंगे ।

इस प्रकार स्वामी जी का आशीर्वाद लेकर सम्मानित होते हुए उन्होंने रत्नराशि को समर्पित किया तब स्वामीजी मुस्कराते हुए बोले- आप लोग व्यर्थ में इतनी राशि लेकर क्यों आये ? हम लोग तो विरक्त संन्यासी हैं इस बहुमूल्य रत्नराशि से हम लोगों का क्या प्रयोजन ? ये सब लौटा ले जाओ अथवा यहाँ जो अनेक याचक, पाचक, दीनहीन ब्राह्मण उपस्थित हैं

काशी में घूमते रहते हैं उनको दे दीजिए । तदनन्तर वे सब फिर जैसे आये थे वैसे ही उसी रास्ते से अपने ऊँटों पर चढ़कर चले गये । समय पर दिल्ली पहुँचकर राज भवन में जैसे ही प्रविष्ट हुए वैसे ही सामने अपने उपवन में अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए अनेक विलास हासोल्लासों के द्वारा विहार करते हुए बादशाह को स्वस्थ देखा, और उनको आया हुआ जानकर उनके मुख से सब समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर बादशाह बहलोल लोदी ने उन सभी का सम्मान किया और स्वयं बोला कि कल मध्याह्न से पहले ही अचानक वेदना से रहित हो गया ।

अहो आश्चर्य है स्वामीजी की तपस्या का प्रभाव है कि वहीं से बैठे-बैठे ही प्राणघातिनी भयंकर शिरोवेदना को तत्क्षण ही नष्टकर दिया । धन्य हैं ये महात्मा, ये वस्तुतः महात्मा है । भगवान् के भक्त क्या नहीं कर सकते हैं ऐसा सुनकर सैनिकों से लौटायी हुई उस महान् रत्नराशि को देखकर महान् प्रभावित होकर श्रीस्वामीजी के दर्शनार्थ अत्यन्त उत्कण्ठित हो गया, स्वामीजी के त्यागवृत्ति की भूरि भूरि प्रशंसा करता हुआ फिर अपने 'तकी' गुरुजी को बुलाकर उससे भी दूनी रत्नराशि और अनेक आभरणों को देकर कहा-गुरुदेव ! परमश्रद्धा से इन सभी वस्तुओं को स्वामी जी के चरण कमलों में विनम्र होकर आग्रहपूर्वक समर्पित करके बारम्बार विनयपूर्वक प्रार्थना करके जिस किसी प्रकार से उन परमगुरु महात्मा श्रीस्वामीजी को दिल्ली ले आवें । तदनन्तर तकी गुरु के साथ भेजी गयी रत्नराशि की सुरक्षा के लिए अपने कुछ सैनिकों को भेजा ।

यद्यपि तकी नाम मौलवी खलीफा बड़ा दुष्ट हृदय का था । हिन्दू महात्माओं का परमद्वेषी था विशेषकर स्वामीजी के विविध चमत्कारों को सुनकर स्वामीजी के प्रति बादशाह का विशेष आकर्षण देखकर स्वामीजी के प्रति अत्यन्त घोर विष भक्षण की तरह भाड़ में भुजे गये चने की तरह बुदबुद हृदय जल उठा । दूसरे के उत्कर्षों को न सह सकने के कारण स्वामी जी के प्रति बादशाह का विशेष आकर्षण सुनकर उसके कान खड़े हो गये उसकी छाती फट गयी गरम श्वास लेते हुए बादशाह से प्रेरित होने से कुछ भी कहने में असमर्थ होने से मन्त्र औषधि से अवरूद्ध शक्ति वाले सर्प की तरह भीतर में निश्वास लेते हुए और भेंट के लिए भेजी जा रही उस महान् रत्नराशियों को देखकर ईर्ष्या की अग्नि में भस्मीभूत हृदय वह दुरात्मा

कहा गया । वह प्राकृत शरीरधारी नहीं है जैसे हम लोग हैं इसलिए निषेध । अन्यथा यदि ब्रह्म का शरीर नहीं होता तो वह सृष्टि रचना करने में वह समर्थ कैसे होता ? अत: वह भगवान् सर्वशक्तिमान् सर्वरूप, सब प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ प्रभु हैं उनके कर्म विचित्र हैं वह सामान्य मनुष्य की तरह सामान्य हाथ पैर से कुछ नहीं करता है उसके कर्म परम आश्चर्यजनक हैं जैसे- बिना हाथ पैर के सब कुछ ग्रहण करता है सर्वत्र गमन करता है बिना नेत्र के देखता है बिना कान के सुनता है इत्यादि विचित्र उसकी गति है ।

तकी- यदि भगवान् शरीरी हैं और शरीर का नाश होता है तो भगवान् अविनाशी कैसे कहे जायेंगे ?

स्वामीजी- यह तो मैंने पहले ही बता दिया कि भगवान् का प्राकृत शरीर नहीं है प्राकृत शरीर का ही नाश होता है अप्राकृत का नहीं, भगवान् के शरीर के बारे में तो सुना ही सहस्रशीर्षा'इत्यादि ऐसा प्राकृत शरीर नहीं हो सकता फिर ऐसे शरीर का नाश कैसे होगा ? नाशादि भी प्राकृत गुण हैं इनका वहाँ प्रवेश नहीं है ।

प्राकृत शरीर धारी जीव और अप्राकृत शरीरधारी भगवान् में शरीर को लेकर भेद पूर्व में प्रतिपादित किया गया है जीव का शरीर प्राकृत विनाशशाली और निश्चित समय के लिए होता है और भगवान् का शरीर अप्राकृत आनन्दमयकर पाद मुख उदर सब आनन्दमय है अर्थात् अपरिमित आनन्दमय है अव्यय, अविनाशी और निर्विकार है अत एव जीव और ईश्वर में परस्पर महद् अन्तर है लोक में जीवों के शरीरों में पशु-पक्षी आदि के शरीर में बहुत अन्तर है तो फिर जीव और ईश्वर के शरीर भेद की कथा तो विचारातीत है ।

यदि परमात्मा सर्वथा शरीर रहित है आपको अभिमत है तो वह अल्लाताला नाम का आपका भगवान् अपने सन्देश को आपके द्वारा स्वीकृत शरीरधारी पैगम्बरादि दूतों के द्वारा मनुष्यों के समक्ष कैसे भेजता है ? बिना शरीर के बिना मुख और जिह्वा के वह पैगम्बरों से बात कैसे करता है ? आप लोगों के कुरान शरीफ में भी लिखा है कि पैगम्बरादि भगवान् की विभूतियाँ हैं और पृथिवी पर खुदा के रूप में भगवान् का सन्देश लेकर आते हैं और भी जब्रइल आदि आकाश में भगवान् के पास गये हैं इत्यादि कहना

तभी सार्थक होगा जब भगवान् भी शरीरी होंगे बिना शरीर के कैसे पैगम्बरों को भेजेगा और बिना शरीर के पैगम्बर भी कैसे आये जायेंगे ? अतः भगवान् का शरीर स्वस्वरूपात्मक सच्चिदानन्दादि अलौकिक धर्मों से अपरिमित-अगणित-आनन्दादि से संचालित वर्णनातीत और अलौकिक है केवल उनकी कृपा से भक्तों के अनुभव में आता है । परमकृपा करके जब भगवान् स्वयं उनको अपनी दृष्टि प्रदान करते हैं तब भक्त लोग भगवत्प्रदत्तदिव्यदृष्टि से भगवान् के स्वरूप को किसी तरह देखने में समर्थ हो पाते हैं अन्यथा नहीं, जैसे गीता में- मैं तुमको दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ मेरे ईश्वरीय योग को देखो ।

इससे हम लोग जो सर्वतोभावेन अनेक उपचारों से नित्य नव्य महोत्सवादि से भगवान् की सेवा करते हैं वह भी परमानन्द से संवलित अलौकिक रसप्रद होने से तथा अपने मनोरथ के अनुरूप भगवत्कृपा से प्राप्त होने से अपरिमित आनन्द देने वाली होने से सफल है उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए । जैसे आपके सम्प्रदाय में कब्रतकियादि की सामान्य रूप से फूलमाला, लोहबान, अगरबत्ती आदि से पूजा होती है उसी प्रकार हमारे यहाँ भगवान् की पूजा अर्चना होती है ।

तकी- भगवन् ! अप्राकृत-अलौकिक अद्‌भुत धर्ममय और अपरिमित आनन्दमय भगवान् के स्वरूप की कल्पना को रत्नपाषाणाष्टधातु से निर्मित मूर्तिमय शरीर में करके उसकी उपासना करना ये तो अज्ञान ही है ।

जड़पाषाण में चिन्तन, ध्यान अथवा पूजन अज्ञानजन्य नहीं है क्योंकि सर्वात्मा, सर्वस्वरूप, सर्वत्रव्याप्त भगवान् का जहाँ कहीं भी किसी भी स्थल में ध्यान कर सकते हैं जिस किसी भी स्वरूप में जीव अपनी इच्छा के अनुरूप ध्यान कर सकता है उसी विग्रह में साक्षाद् भगवान् विराजमान होकर भक्तों से विहित पूजा को स्वीकार करते हैं क्योंकि भगवान् सब जगह विद्यमान हैं किञ्च- जिस स्वरूप में हम लोग उसकी उपासना करते हैं उसके आरम्भ में प्रतिष्ठा काल में ही वैदिक मन्त्रों के द्वारा धारण ध्यान-उपासनादि के द्वारा अपनी भावना के अनुरूप भगवान् का स्वरूप प्रतिष्ठित है इसलिए उसमें साक्षात् विद्यमान प्रभु भक्ति से समर्पित प्रत्येक सामग्री को स्वयं ही अति प्रेम से स्वीकार करते हैं कहा भी है- भक्त के द्वारा समर्पित किया हुआ अणु भर पदार्थ भी मुझे बहुत प्रतीत होता है और अभक्त के द्वारा समर्पित बहुत पदार्थ भी मेरी प्रसन्नता के लिए पर्याप्त नहीं है इसलिए हम

लोग भगवान् की प्रसन्नता के लिए और आत्म संतोष के लिए ही सब कुछ करते हैं जैसे आप लोग भी कब्रादि की पूजा करके तत्पश्चाद् शुभाशा प्राप्ति की कामना करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी समझ लीजिए और यदि आप लोग उन पूर्वजों को जो मर गये हैं गड्ढे में- कब्र में उनकी हड्डी पञ्जर मात्र शेष है उसमें उनको विद्यमान समझकर उनके स्मरण के लिए पूजनादि करते हैं यह भी ठीक है वैसा ही भगवत्स्मरण के लिए मूर्ति होती है ऐसा जान लीजिए ।

वास्तव में तो हम लोग आपकी भावना के अनुरूप नहीं करते हैं हम लोग तो सर्वत्र विद्यमान अपने इष्टदेव को अपनी भावना के अनुरूप एक भगवद् विग्रह मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा के समय वैदिक मन्त्रों से बुलाकर सुप्रतिष्ठापित करके सर्वदा भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने के लिए विराजमान भगवान् का अपनी-अपनी भावना के अनुसार उपासना करते हैं । सर्वदा अविच्छिन्न प्रवाह रूप से सर्वत्र फैली हुई मनोवृत्ति को सब जगह से खींचकर भगवद् भावना विशेष से भावित होकर भगवान् के सौन्दर्य, लावण्य, शृंगारादि विशिष्ट इष्टापूर्तिमय विग्रह से संयुक्त करके अलौकिक आनन्द सिन्धु में निमग्न और भगवद् रस से सम्पृक्त करके अपने जीवन की सफलता और भगवत्स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं ।

और जो लोग विशेष अज्ञान के कारण कुण्ठित मति वाले हैं और ऐसा सोचते हैं कि सर्वत्र व्यापक भगवान् की पाषाणादि से निर्मित जड़मूर्ति में जो उपासना करते वे अज्ञानी हैं यह उनके मन का भ्रम है जड़बुद्धि का अविवेक है वे अभागे लोग नहीं जानते है कि भक्तिपूर्वक आवाहन करने पर साक्षात् भगवान् ही आकर वहाँ विराज रहे हैं इस बात का विस्तार से वर्णन हो गया । भगवान् के भक्तों की दृष्टि में पाषाणादि विग्रहों में कभी भी जड़भाव नहीं होता है । भक्त तो उसमें प्रसन्न मुख कमल अपने परमात्मा का साक्षात् दर्शन करते हैं भगवान् तो भक्तों की केवल भावना को देखते हैं वैसे ही भक्तों की भावना के अनुरूप भगवान् अपने स्वरूप को प्रकट कर देते हैं दर्शन कराते हैं आनन्द प्रदान करते हैं कहा भी है- जो जिस में श्रद्धा करता है उसके लिए वह वही है और भी भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है-

"यो यो यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमर्हति । तस्य तस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥"

मेरे जो जो भक्त मेरी जिस मूर्ति की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं उस मूर्ति में उनकी अचल श्रद्धा को मैं सुदृढ़ करता हूँ और उसमें अपने को प्रकट कर देता हूँ। उस श्रद्धा से युक्त होकर उसकी आराधना की चेष्टा करता है तत्पश्चाद् मेरे द्वारा विहित भोगों को प्राप्त करता है। भगवान् तो भक्तों के भावना के अनुरूप ही अपने को प्रकट करते हैं और दर्शन देते हैं।

तकी- भगवन् ! यदि भगवान् साक्षात् मूर्ति में विराजते हैं तो दुष्ट लोग भगवान् की मूर्ति को तोड़ देते हैं अथवा उसका नाश करते हैं भगवान् की मूर्ति चुरा ले जाते हैं अथवा उनके आभूषणों को चुरा ले जाते हैं तब भगवान् उन दुष्टों को तत्काल दण्ड क्यों नहीं देते हैं और उनके प्रहार से अपने विग्रह की रक्षा क्यों नहीं करे हैं इसमें क्या रहस्य है ?

श्रीस्वामीजी- यद्यपि प्रश्न का उत्तर प्रश्न से भी दिया जा सकता है- जैसे आपके मत में भी खुदा सर्वत्र है सर्वशक्तिमान् है ऐसा माना जाता है तब यदि कोई दुष्ट दुराग्रही खुदा को सर्वत्र विद्यमान न माने और न ही भगवान् को प्रणाम करे न सम्मान करे तब खुदा उसी क्षण दण्ड देकर उसका शोधन क्यों नहीं करते हैं अथवा सैकड़ों चपेटा लगाकर उसका गाल लाल क्यों नहीं करते हैं और किसी और से क्यों नहीं करवाते हैं क्या इससे खुदा की सर्वव्यापकता नष्ट हो गई ? अथवा वह शक्तिमान् नहीं है जो उसको उसी क्षण दण्ड नहीं देता है क्या आप स्वीकार करेंगे ?

ठीक है- वास्तव में भगवान् परम कारुणिक हैं जिस किसी भी भाव से सत्य मन से भगवान् की प्रार्थना करते हैं हे नाथ ! मैं दु:खी दुराचारी दीन हीन चोरी करने वाला सर्वात्मना अशरण आपकी शरण में आया हूँ मेरा मनोरथ अन्यत्र सफल नहीं हुआ अपने दुधमुहे बच्चों का पालना कैसे करूँगा? दूसरी जगह से कुछ भी नहीं पाया। इसीलिए आज तुम्हारे ही आभूषणों को चुराने आया हूँ हे नाथ ! मेरे मनोरथ को पूर्ण करो ऐसी मन में कल्पना करके भगवान् के आभूषणों को भगवान् के शरीर से उतारता है तब भगवान् भी हँसते हैं उस चोर भक्त को अपना आभूषण दे देते हैं उसमें भगवान् की दयालुता ही है। और मूर्ति खण्डन करने वाले राक्षस जैसे आचरण करने वाले जो दुष्ट भक्त हैं उसकी वैसी अनन्य चिन्तनमयी कामना की पूर्ति के लिए सन्नद्ध रहते हैं उस समय भी उसकी उस प्रकार की चेष्टा

देखकर भगवान् हँसते हैं उसको वैसा करने से रोकते नहीं है वहाँ भी भगवान् तामसी भक्त की इच्छा पूर्ति करते हैं।

किन्तु जहाँ कहीं भी भगवद्भक्त पशु, पक्षी, क्षुद्र अथवा मधुमक्खी आदि जागरूक होते हैं तब वे ही उसको वैसा करने से रोकते हैं जैसे बहुत जगहों पर होता है उस प्रकार दूषित चेष्टा करने वाले दुष्ट को वृक्ष से अपने मधु के छत्ते से बाहर निकलकर मधुमक्खियाँ डंसती है परन्तु भगवान् निषेध नहीं करते हैं अत: भगवान् में किसी प्रकार कोई विरुद्ध कल्पना नहीं करना चाहिए। भगवान् के सभी अनेक प्रकार के राजसी, तामसी एवं सात्विक और दुष्ट दुराचारी भक्त समान हैं। उनकी भक्ति वैसी ही है जो भगवान् के श्रीअंगों से आभूषणों को हटाते हैं। कुछ लोग समर्पित करते हैं धारण कराते हैं कुछ लोग उतरवाते हैं और चुराते हैं परन्तु अपने-अपने कर्म के अनुसार तो वे लोग तत्तत्कर्म फलों को भोगते ही हैं किञ्च कालान्तर में कर्म की परिपाक दशा में ही जब तक उनके पूर्वजन्मों के अर्जित सत्कर्मों का उदय नहीं होता तब तक वे अपने दुष्कर्मों के फल को भोगते हैं यही शास्त्रीय सिद्धान्त हैं यह सुनकर शंका रहित होकर श्रद्धापूर्वक तकी ने कहा-

तकी- भगवन्! हम तो बादशाह से प्रेषित होकर उनके कथन को निवेदित करने ही उपस्थित हुए हैं। हमारे बादशाह श्रीबहलोललोदी आपके श्रीचरणों में बार-बार प्रणामपूर्वक निवेदन किया है कि मैंने आपके अनुग्रह से व्यथा रहित होकर हर प्रकार के सुख को प्राप्त कर लिया। आश्चर्यजनक लोगों के नेत्रों के चमत्कारकारक अत्यन्त घोर वेदना को दूर करने वाला दास जनों की आपत्ति को वारण करने वाला तप: प्रभाव को देखकर साक्षाद् आपके दर्शन की अभिलाषा से प्रार्थना करता हूँ कि आप श्री यहाँ पधार कर इस स्थान को पवित्र करके हमारे मनोरथों को पूर्ण करें इति और भेजी हुई इस उपहार सामग्री को स्वीकार करें ऐसा निवेदन करके सुवर्ण चांदी आदि पात्रों में अमूल्य रत्न-आभूषणादि सामग्री को श्रीरामानन्दाचार्यजी के सम्मुख रख दिया।

सब वृत्तान्त सुनकर सामने स्थाली में रखे विविध रत्नादि को देखकर मुस्कराते हुए आचार्य श्री ने कहा- भगवन्! हम तो त्यागी, संन्यासी है इन राजोचित रत्नों की आवश्यकता नहीं है इनसे हमारे कोई पारलौकिक कार्य नहीं सम्पन्न होंगे अत: ये हमारे लिए व्यर्थ ही है। इसलिए बादशाह के

भेजे गयं इन पदार्थों को दीन हीन याचकों, ब्राह्मणों, अनाथों, लंगड़ों, अन्धों को दे दो । जिससे सभी क्षुधा से पीड़ितों की क्षुधा निवृत्ति, कुछ अभिलाषा करने वालों की इच्छापूर्ति, दीनों के दैन्य का नाश और ब्राह्मणों में भजन करने की सद् बुद्धि उदित हो, उससे बादशाह के यशोवृद्धि सर्वदा निरोगता, बढ़े । इन सभी के आशीर्वाद से हमेशा बादशाह का कल्याण होगा । और आप वहाँ जाकर बादशाह से निवेदन करें कि स्वामी जी ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक अनेक आशीर्वादों से आपको अभिनन्दित करते हुए कहा है कि दिल्ली आने हेतु किये गये आपके आग्रह का मैं विशेष सम्मान करता हूँ आपकी भावना का अभिनन्दन करता हूँ इस समय समय का अभाव है अत: विवश हूँ फिर कभी आयेंगे । यहीं रहकर यहीं से प्रतिदिन आपकी शुभकामना करता हूँ आप में सद्भावनाएँ उल्लसित हों आपकी धर्म में रति हो ।

इस प्रकार स्वामीजी की अत्यन्त मधुर अमृतवर्षी वाणी से सन्तृप्तमना होकर वह तकी मुहम्मद श्रद्धापूर्वक स्वामीजी के चरणों में बार-बार प्रणाम निवेदित करके जैसे आया था वैसे ही दिल्ली चला गया और वहाँ जाकर बादशाह के समीप पहुँच कर स्वामी जी के वैदुष्य, शीलस्नेहमयस्वभाव, माधुर्य पूर्ण वाक्शैली, त्याग और सन्तोष का हृदय से भूरि भूरि प्रशंसा किया ।

एक बार काशी में ही श्रीमठ में अनेक देश के निवासी विद्वानों की महती सभी का आयोजन हुआ और उसमें वेदान्त में ब्रह्मसूत्रों को लेकर उसके ऊपर लिखि व्याख्या स्वरूप विस्तृत विवेचनात्मक विषय प्रस्तुत हुआ । उस समय के बड़े-बड़े वेदान्ती भाष्यकार इकट्ठे हुए आये, और उनके प्रतिनिधिस्वरूप अनेक वाद विवाद विशारद अद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और केवलाद्वैतवादी वे भी आये, जिनका सिद्धान्त सौ वर्षों के बाद शुद्धाद्वैत नाम से प्रसिद्ध हुआ । सबके एकत्रित हो जाने पर शास्त्रार्थ होने लगा । अपने-अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में नाना युक्तियाँ, प्रयुक्तियाँ, दृष्टान्त, दार्ष्टान्तादि अनेक प्रकार के और वेद स्मृति, पुराण, इतिहास से विकसित वाक्यों को उपस्थित करके विषय प्रतिपादन करते थे । अलौकिक विद्वानों का समागम हुआ जैसे सुधर्मा सभा में नानारूपधारी साक्षात् बृहस्पति के उत्तरदायित्व निर्वहन करने वाले देवताओं की सभा में दैवी सम्मेलन देवराज इन्द्र ने कराया जो अत्यन्त दर्शनीय रहा हो ।